विचार और विश्लेषण

लेखक

डा० नगेन्द्र

एम. ए., डी. लिट्.
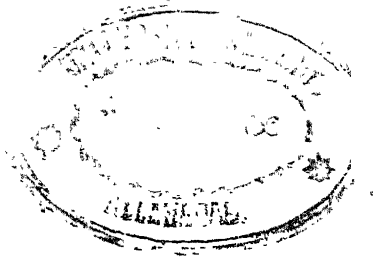
नैशनल पब्लिशिंग

नई सड़क - दिल्ली

समालोचक के लिए स्फुट विवेचनात्मक निबन्ध लिखना प्रायः उसी प्रकार अनिवार्य-सा हो जाता है जिस प्रकार प्रबन्ध-कवि के लिए गीत रचना : आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक अवकाश होने के कारण उनमें सृजन-तत्त्व अधिक रहता है । अतएव अपने व्यवस्थित, आलोचन-कार्य से समय निकाल कर मैं भी आरम्भ से ही स्फुट निबन्ध-रचना करता रहा हूँ। इस प्रकार के निबन्धों का यह तीसरा संकलन है । विचार तीनों में सामान्य रूप से अन्तर्भूत है : अनुभूति से विवेचन और विवेचन से विश्लेषण की ओर प्रयाण प्रौढ़ि का द्योतक है या प्राण-शक्ति के ह्रास का—यह निर्णय तो पाठक ही करेंगे, परन्तु मैंने स्वयं यही प्रयत्न किया है कि प्राण-रस सूख ने न पाये ।

प्रस्तुत संग्रह के एक-दो निबन्ध पुराने हैं : उनकी रचना आज से लगभग दस वर्ष पूर्व हुई थी किन्तु उनके विषय पुराने नहीं पड़े, इसलिए उनका भी समावेश कर लिया गया है। कुछ निबन्ध आंशिक रूप में आकाशवाणी से प्रसारित हो चुके हैं ।

२०१२, आषाढ़स्य प्रथम दिवसे,
हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

—नगेन्द्र

अनुक्रमणिका

खण्ड १ : विचार

खण्ड २ : विश्लेषण

खण्ड १ : विचार

: एक :

साहित्य के मानदण्ड

मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नहीं हैं—पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में भी इनका समावेश अर्थ-शास्त्र अथवा वाणिज्य-शास्त्र से किया गया है। जीवन में भौतिक-आर्थिक प्रभाव की वृद्धि होने से आर्थिक शब्दावली का भी प्रयोग अन्य क्षेत्रों में होने लगा : स्थूल तथ्य-परक विषयों के अतिरिक्त सूक्ष्म तत्त्व-परक विषयों के भी मूल्य और मानदण्ड या मापदण्ड होने लगे। भारतीय काव्य-शास्त्र में स्थिति इसके विपरीत थी—यहाँ की दृष्टि मूलतः अध्यात्म-परक होने से यहाँ दार्शनिक या अधिमानसिक (मेटाफ़िज़ीकल) शब्दावली का प्रभाव था। साहित्य के मानदण्डों का विवेचन यहाँ साहित्य अथवा काव्य की 'आत्मा' और काव्य के प्रयोजन की चर्चा के अन्तर्गत किया गया है। आत्मा का अर्थ है आधार तथा प्रयोजन का अर्थ है उद्देश्य : और ये ही दो तत्त्व किसी वस्तु के मानदण्ड या मूल्य का भी निर्धारण करते है—अतएव यहाँ आत्मा और प्रयोजन के विवेचन में मानदण्ड का विवेचन व्यंग्य रूप से निहित है। काव्य की आत्मा रस है, ध्वनि है, अलंकार अथवा वक्रता है—इसका तर्क-सम्मत निरूपण कर भारतीय आचार्य ने व्यंजना से यह भी स्पष्ट कर दिया कि काव्य का मूल तत्त्व क्या है जो काव्य के काव्यत्व को सार्थक करता है—यही काव्य की कसौटी या मानदण्ड भी था। परन्तु आत्मा के विवेचन में भारतीय आचार्य काव्य-शास्त्र की परिधि से बाहर नहीं गया। रस के द्वारा अनुभूति-तत्त्व को, ध्वनि के द्वारा कल्पना-तत्त्व को—क्रोचे के शब्दों में सहजानुभूति को, और वक्रता अथवा अलंकार के द्वारा अभिव्यंजना—और स्पष्ट शब्दों में अभिव्यंजना-कौशल को काव्य का आधार-तत्त्व और व्यंग्य रूप से मूल मान घोषित करता हुआ वह काव्य-शास्त्र की परिधि में ही रहा। हाँ, काव्य के प्रयोजन में उसने जीवन की विस्तृत भूमि में पदार्पण किया और अनेक प्रयोजनों की चर्चा की जिनमें से कुछ वैयक्तिक थे—कुछ सामाजिक। उदाहरण के लिये आनन्द और बौद्धिक विकास व्यक्तिगत सिद्धियाँ थीं। आनन्द को प्राचीनतर आचार्यों ने–भामह और वामन आदि ने–प्रीति तथा कुन्तक आदि परवर्ती आचार्यों ने आह्लाद अथवा

चमत्कार कहा; और बौद्धिक विकास के लिए भरत ने बुद्धि-विवर्धन शब्द का प्रयोग किया जिसके अन्तर्गत भामह का कला-वैचित्र्य भी आ जाता है। उधर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि और लोकोपदेश आदि सामाजिक प्रयोजन थे। इस प्रकार अपने ढंग से हमारे आचार्य ने भी काव्य की वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की ही सिद्धियों का काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत समावेश कर लिया था। स्वान्तःसुख और लोक-हित दोनों के प्रति वह आरम्भ से ही जागरूक था, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु यह भी सत्य है कि इन दोनों के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में भी उसे कोई भ्रान्ति नही थी। आनन्द को इसीलिए उसने निर्भ्रान्त शब्दों में सकल-प्रयोजन-मौलिभूत कहा है। कुन्तक की निर्भीक घोषणा है :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

जिसका भावार्थ यह है कि काव्यामृत रस का चमत्कार चतुर्वर्गफलास्वाद से भी बढ़कर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार काव्य की आत्मा आनन्द-रूप रस और मूल प्रयोजन आनन्द माना गया है—और व्यंजना से यही उसका मानदण्ड या आधारभूत मूल्य भी है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र पर काव्येतर मूल्यों का समाघात बहुत पहले ही हो गया था। वहाँ नीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति और अब पिछले वर्षों में अर्थ-शास्त्र आदि के आघात के फलस्वरूप अनेक मूल्यों का आरोप काव्य पर होता रहा है। सामान्यतः वहाँ भी दो मूल्यों में द्वन्द्व रहा है : (१) सौंदर्यमूलक और (२) उपयोगितामूलक—जिनका पर्यवसान अन्ततः आनन्द और लोक-हित में होता है। इन्हीं को लेकर पश्चिम के सौंदर्यवादी, कलावादी, मनोवैज्ञानिक और समाज-वादी आलोचक उलझते रहे हैं।

हमारा मत है कि उपर्युक्त दोनों मानदण्ड परस्पर-विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक ही हैं : आनन्द और कल्याण को परस्पर विरोधी मानना असंगत है परन्तु इन दोनों में सापेक्षिक मूल्य आनन्द का ही अधिक है; आनन्द की व्यापक परिधि में हित की भावना अन्तर्भूत है और हित की परिणति भी आनन्द ही है। वास्तव में हित जहाँ खण्ड-चेतना बुद्धि का साध्य है वहाँ आनन्द अखण्ड चेतना का साध्य है। अखण्ड चेतना का साध्य होने के कारण ही रस को अखण्ड माना गया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने रूढ़ शब्दावली में आनन्द शब्द का त्याग करते हुए भी वृत्तियों के समन्वय (सिस्टमेटाइजेशन आफ़ इम्पल्सेज़) को काव्य

का अन्तिम मूल्य मान कर अन्त में चेतना के इसी तन्मयता-रूप आनन्द को ही प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया है। इधर आचार्य शुक्ल की 'हृदय की मुक्तावस्था' शब्दावली की भी आनन्द से भिन्न स्थिति नहीं है क्योंकि यह अवस्था यदि अभावात्मक है तो अपूर्ण और खण्डानुभूति है और यदि भावात्मक है तो आनन्द के अतिरिक्त और कोई नाम इसे नहीं दिया जा सकता।

रस की कल्पना वस्तुतः अत्यन्त व्यापक आधार पर की गयी है: आज की शब्दावली में उसका पुनराख्यान कर आधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि में आ जाते हैं। यूरोप के आधुनिक सौंदर्यवादियों की भाँति वह जीवन से असंपृक्त नहीं है—वह तो जीवन के स्थायी भावों पर ही मूलतः निर्भर है। नैतिक मूल्य भी अपने उदात्त रूप में रस में अन्तर्भूत है क्योंकि रस-सिद्धान्त नीति-विरोधी नहीं है—नीति-विरोधी तत्त्वों को रसाभास रूप में अभिशंसित कर वह जीवन के स्वस्थ-नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है। सत्त्व के उद्रेक को रस-परिपाक का अनिवार्य उपबन्ध मान कर रस-सिद्धान्त ने उदात्त नैतिक मूल्यों का प्रबल समर्थन किया है। जीवन के नैतिक मूल्य ही बहिर्मुख होकर अपनी स्थूलता में उपयोगितावादी मूल्य बन जाते हैं। काव्य का रस चित्त-वृत्तियों का परिष्करण और समंजन करता हुआ अपनी चरम उपयोगिता सिद्ध करता है—वैसे भी, आनन्द से अधिक उपयोगी तत्त्व की कल्पना मानव-मन कदाचित् अभी नहीं कर सका। मानववाद के विकास के फलस्वरूप पश्चिम के काव्य-शास्त्र और उसके प्रभाव से हमारे काव्य-शास्त्र में भी मानव-मूल्यों का समावेश हुआ: मानव-मूल्य निस्सन्देह जीवन के चरम मूल्य हैं—मानवता से अधिक मानव-जीवन का मानदण्ड क्या हो सकता है? भारतीय रस-शास्त्र आज से सहस्र वर्ष पूर्व अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में इन्हीं मानव-मूल्यों को स्वीकृति देकर अपनी सार्वभौमता एवं सार्वकालिकता सिद्ध कर चुका है। अतएव मेरा विनम्र मत है—साहित्य का चरम मान रस ही है जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है: अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।

: दो :

हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र (सम्भावनाएँ)

हिन्दी आलोचना-शास्त्र—यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विषम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन में चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं: (१) क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है? (२) क्या हिन्दी आलोचना-शास्त्र जैसा कोई स्वतंत्र विधान विद्यमान है (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है? और (४) क्या स्वतंत्र भारत में, जब प्रादेशिक भावना की दीवारों को तोड़कर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा? प्रस्तुत विषय का विवेचन मैं इन्ही चार प्रश्नों के आधार पर करूँगा।

पहला प्रश्न है: क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है? आलोचना-शास्त्र से अभिप्राय साहित्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता से है जिसे अँग्रेज़ी में 'प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जिसके साहित्य-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मान कर हिन्दी में हमें काव्य-शास्त्र शब्द को इस अर्थ में रूढ़ कर देना चाहिए। काव्य-शास्त्र वस्तुतः काव्य-सम्बन्धी तथ्यों अथवा नियमों का आकलन मात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसन्धान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसन्धान और उपलब्धि क्या भाषानुसार खण्डित किये जा सकते हैं? यह शंका मेरे मन में और मैं समझता हूँ आप में से अनेक के मन में उठ सकती है? तो क्या बँगला काव्य-शास्त्र, असमिया काव्य-शास्त्र, उर्दू काव्य-शास्त्र, मराठी काव्य-शास्त्र, और इसी प्रकार हिन्दी काव्य-शास्त्र का संस्कृत या भारतीय काव्य-शास्त्र से स्वतंत्र तथा परस्पर-भिन्न अस्तित्व है? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब तो दर्शन को भी भाषावार विभक्त करना पड़ेगा: हिन्दी दर्शन, उड़िया दर्शन, कन्नड़ दर्शन? सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसन्धान की सुविधा के लिए, पूर्व और

पश्चिम, या अधिक से अधिक प्रजाति या राष्ट्र, के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समान-मातृका भाषाओं में उसे बाँटना तो नितांत अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, सत्य की उपलब्धि मात्र नहीं है, उसका अनुसन्धान भी तो है—यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही अधिक है, क्योंकि उपलब्धि के उपरांत तो वाणी मौन हो जाती है। अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्कालावच्छिन्न नहीं हो सकती क्योंकि अनुसन्धाता की अपनी शक्ति-सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान की प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नहीं है। संस्कृत और अँग्रेज़ी से हिन्दी का अपना स्वतंत्र काव्य है, अतः उसके माध्यम से सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतंत्र हो सकती है—दूसरे शब्दों में हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतंत्र काव्य-शास्त्र विद्यमान है ? हिन्दी मे काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीतिकाल में पूरी दो शताब्दियों तक निरंतर रीति-ग्रन्थों की रचना होती रही और सहस्रावधि ग्रन्थ प्रकाश में आए—आधुनिक युग में भी लगभग अर्ध-शताब्दी से इस क्षेत्र में अनवरत कार्य हो रहा है जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं है। रीति-युग में जहाँ केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि जैसे सर्वांग-विवेचक आचार्य हुए, वहाँ आधुनिक युग में भी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्भट विद्वानों ने इस अङ्ग की श्रीवृद्धि की है और आज भी, मेरी धारणा है कि हिन्दी साहित्य का सबसे पुष्ट अङ्ग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नही है। परन्तु प्रश्न परिमाण का नहीं है, गुण का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रन्थ-समुदाय पर आधृत हिन्दी काव्य-शास्त्र का संस्कृत, और वर्तमान युग में अँग्रेज़ी अथवा अधिक-से-अधिक यूरोपीय काव्य-शास्त्र से, स्वतंत्र अस्तित्व है ? इस प्रश्न के उत्तर में सहसा 'हाँ !' कहना कठिन है, क्योंकि रीति-युग का विवेचन दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी के रीतिकार ने परम्परागत काव्य-शास्त्र के विकास में भी कोई विशेष योगदान

नहीं किया, स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र के निर्माण का तो कहना ही क्या ! अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दी रीति-ग्रन्थों में यदि कहीं तथाकथित स्वतंत्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित संस्कृत-ग्रन्थ मे ही मिल जाता है, या अपने आप में नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिन्दी-रीतिकार की भ्रान्ति का परिणाम मात्र है। वर्तमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में अनेक आचार्य हिन्दी के उदाहरण तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत मे उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी संस्कृत उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति में हमारे साहित्य में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र कह सकें ? —इसमें सन्देह नहीं कि इस आलोचना में बहुत-कुछ तथ्य है परन्तु दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नहीं रह जायेगा। वास्तव में हिन्दी रीति-शास्त्र का मूल्यांकन करते हुए आज भी हम संस्कृत काव्य-शास्त्र के मानदण्डों का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्राय: सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारों ने की है : अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असंगति। संस्कृत में लक्ष्य काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूर्ण सामंजस्य था : भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक आदि ने अपने सिद्धान्त-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होंने चाहे निगमन शैली का अवलम्बन किया हो चाहे आगमन शैली का, परन्तु संस्कृत काव्य का आधार कहीं नहीं छोड़ा—इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा जिसने उनके काव्य-शास्त्र को रूढ़ि-जड़ नहीं होने दिया। हिन्दी का रीतिकार इसी जीवन्त सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाया : परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणों का अनुवाद कर उनकी सिद्धि के लिए नये उदाहरण रचता रहा। इस प्रकार सारा क्रम ही उलट गया—आवश्यक यह था कि वह हिन्दी में उपलब्ध लक्ष्य काव्य के आधार पर निगमन शैली से लक्षण-रचना करता या हिन्दी काव्य के आधार पर संस्कृत सिद्धान्तों का परीक्षण एवं पुनराख्यान करता, परन्तु वह लक्षण को सिद्ध करने के लिए लक्ष्य की रचना करने लगा। आज हम फिर इसी दृष्टि से हिन्दी रीति-साहित्य का मूल्यांकन कर उसी भूल की आवृत्ति कर रहे हैं—परिणाम यह होता है कि उसमें जो थोड़ा-बहुत अपना है वह भी संस्कृत काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कसने से उपेक्षित या तिरस्कृत हो जाता है और हमें लगता है कि हमारे पास कुछ नहीं है।

परन्तु स्थिति इतनी दयनीय नहीं है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन काव्य में—और काव्य-शास्त्र में भी, इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके

आधार पर हिन्दी के अपने विशिष्ट काव्य-शास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती : कम-से-कम हिन्दी के पास इतना मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर एक अच्छे काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अँग्रेज़ी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अपनी सम्पत्ति होगा। मैं कुछ उदाहरण देकर अपनी स्थापना को पुष्ट करता हूँ। पहले लक्षण ग्रन्थों को ही लीजिए—इसमें सन्देह नहीं कि हमारे अधिकांश लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत अलंकार-शास्त्र या कवि-शिक्षा-ग्रन्थों के ही उपजीवी हैं, परन्तु उनमें ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो नई है : उदाहरण के लिए रस अथवा शृंगार-रस के सार्वभौम महत्त्व की प्रतिष्ठा जैसी हिन्दी में है, वैसी संस्कृत में नहीं है। संस्कृत का मान्य सिद्धान्त, समग्रतः ध्वनि ही रहा है : आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता से मण्डित कर दिया था और रस, अलंकार आदि उसी के अधीनस्थ हो गये थे। हिन्दी रीति-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त रस ही हुआ : रीति युग में शृंगार रस की ऐसी सहस्रधारा प्रवाहित हुई कि ध्वनि, अलंकार आदि उसमें निमग्न हो गये—यहाँ शृंगारवाद के रूप में एक पृथक् सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ। आप कहेंगे कि शृंगार के रसराजत्व के सूत्र भी तो संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे—परन्तु सूत्र तो सभी के कहीं-न-कहीं से प्राप्त होते ही हैं, महत्त्व उस स्वतन्त्र और व्यापक रूप–आकार का है जो शृंगार ने हिन्दी काव्य-शास्त्र में धारण कर लिया था। वास्तव में हिन्दी के आचार्य की दृष्टि ही बदल गयी थी—और इसका एक अद्भुत प्रमाण यह है कि महाराज रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के कोटि-क्रम का विधान किया है; यह ध्वनि के लिए सबसे बड़ी चुनौती और रस की सार्वभौम-प्रभुता का अन्तिम प्रमाण था। देव ने अनेक प्रकार से रस का प्रबल पृष्ठपोषण और ध्वनि का पूर्ण तिरस्कार किया। —यहाँ तक कि उन्होंने व्यंजना को रस-कुटिलता के कारण अधम ही कह दिया। अलंकार के क्षेत्र में अतिशय तथा वक्रता आदि के स्थान पर हिन्दी में सादृश्यमूलक उपमादि की प्रतिष्ठा हुई, गुणों में माधुर्य की (चिंतामणि आदि ने उसे काव्य का सर्वस्व माना है) और शब्दालंकारों में अनुप्रास की। यह सब शृंगार-रस की ही महिमा थी जिसका चमत्कार नायिका-भेद के क्षेत्र में और भी अधिक प्रकाशित हुआ—शुक्ल जी जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में नायिका-भेद का विधान कहीं अधिक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण है। हिन्दी का छन्द-शास्त्र तो प्रायः स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ ही है—दास आदि ने तुक की विवेचना कर एक स्वतंत्र परिपाटी का शिलान्यास किया। इस प्रकार और

मे भी किया जाये। मेरा अभिप्राय यह नही है कि हिन्दी के रीतिकारो की त्रुटियों और भ्रांतियों को भी प्रमाण मान लिया जाए। हमारा रीति-शास्त्र संस्कृत पर आश्रित रहा है, अतएव संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रकाश में उसका अध्ययन होना तो ठीक ही है और ऐसा अनेक विद्वान कर भी चुके है। किन्तु मेरा निवेदन केवल यही है—उसके साथ-साथ स्वतन्त्र दृष्टि से भी हिन्दी रीति-शास्त्र का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकार एक सर्वथा भिन्न युग तथा भिन्न साहित्य के प्रतिनिधि थे। संस्कृत की ऋणी होने पर भी उनकी काव्य-चेतना स्वतन्त्र थी। इस प्रसंग में मुझे अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ड्राइडन की एक प्रसिद्ध उक्ति का अनायास ही स्मरण हो आता है : वे लिखते हैं—'हमें हर जगह यह दुहाई नहीं देनी चाहिए कि अरस्तू का मत भिन्न था—आज यदि अरस्तू होता तो वह भी अपना मत बदल देता।' काव्य-शास्त्र का यह ज्वलन्त सत्य है, इसकी उपेक्षा कर देने मे हिन्दी में जो कुछ स्वतन्त्र है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

रीति-विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी के प्राचीन काव्य में भी इतनी प्रभूत सामग्री है कि उसके आधार पर अपने स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र का निर्माण अत्यन्त सफलतापूर्वक किया जा सकता है। आरम्भ से ही हिन्दी की अपनी विशिष्ट काव्य-चेतना रही है जो स्वतंत्र काव्य-रूपों मे अभिव्यक्त होती आयी है—जैसे रासो काव्य का अपना स्वतंत्र स्वरूप है जिसे आप संस्कृत के महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के लक्षणों में नहीं बाँध सकते, आल्ह-खण्ड जैसे वीर-गीतों का भी अस्तित्व पृथक् ही है। हिन्दी का संत-काव्य, काव्य की मूल चेतना और अभि-व्यंजना-शैली की दृष्टि से, संस्कृत काव्य-शास्त्र के लक्षणों में नहीं आता। इसी युग के प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा को शास्त्रीय प्रबन्ध-काव्य की कसौटी पर आँकना उचित नही है। भक्ति-युग में गीति और प्रबन्ध के अपूर्व समन्वय से जो एक नवीन किन्तु अत्यंत प्रबल काव्य-रूप आविर्भूत हुआ उसको आप न संस्कृत के रूढ़-मुक्तक की परिभाषा में बाँध सकते हैं, न प्रबन्ध की और न पाश्चात्य गीति-काव्य की। इसी प्रकार रीति-काल में सवैया तथा घनाक्षरी में जो अद्भुत रस-व्यंजना हुई वह न संस्कृत के मुक्तक की परिधि में आती है और न अँग्रेज़ी के गीत की : उसमें मुक्तक की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म-तत्त्व विद्यमान रहता है। इन सभी अभिव्यंजना-रूपों का अध्ययन संस्कृत के लक्षणों अथवा सर्वथा भिन्न देश-काल में विकसित यूरोपीय काव्य-शास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा करने के

स्थान पर हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप—हिन्दी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-चेतना तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपों के विश्लेषण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्य-शास्त्र के उस चिरन्तन सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भी आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि आलोच्य में से ही प्राप्त करनी होगी—और इसमें इन कवियों की अपनी उक्तियाँ, जो आत्म-निरीक्षण के क्षणों में स्वतः उद्गीथ हो गई है, आपका पथ-प्रदर्शन करेंगी। तुलसी और घनानन्द जैसे कवियों में इस प्रकार का आत्मालोचन पर्याप्त मात्रा में मिलेगा : आप कल्पना कीजिए कि रीति के उस रूढ़ि-ग्रस्त युग में घनानन्द मे आत्म-तत्त्व के पोषक इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही मिल जाते हैं :

लोग तो लागि कवित्त बनावें पै मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

तुलसीदास अपने मंगलाचरण में ही वाणी और विनायक का विचित्र संयोग कर अपनी कल्याणमयी सौन्दर्य-भावना की व्यंजना कर देते हैं।

हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्र तथा काव्य के विषय में तो और भी अधिक क्षेत्र हैं। मैं यह मानता हूँ कि आरम्भ में जो रीति-ग्रन्थ लिखे गये उनमें स्वतन्त्र दृष्टि का प्रायः अभाव है—आधार चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र रहा हो या पाश्चात्य। परन्तु यह भी अनुपयोगी नहीं था। भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वश्री अर्जुनदास केडिया, जगन्नाथप्रसाद भानु और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के ग्रन्थों की उपादेयता अतर्क्य है; इसी प्रकार साहित्यालोचन आदि ने पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त कराने में बड़ी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व आज भी नगण्य नहीं है। परन्तु हिन्दी काव्य-शास्त्र का स्वतंत्र रूप इनमें न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा में ही मिलता है। इधर आधुनिक काव्य और उससे सम्बद्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भूमिकाओं में हिन्दी काव्य-शास्त्र के विकास के लिए अत्यंत पुष्ट आधार मिलता है। छायावाद में पन्त आदि सक्षम कलाकारों ने जिस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष किया है वह हिन्दी की अपनी विभूति है जो बँगला और अँग्रेज़ी की रोमानी छाया से स्वतन्त्र है। कला की अन्तश्चेतना और बाह्य अभिव्यंजना दोनों के विकास में उसका अपना विशिष्ट योगदान है जिसका उचित मूल्यांकन अभी होना है। यशोधरा और द्वापर; तुलसीदास, बापू और कुरुक्षेत्र; और इन सबकी मुकुटमणि—कामायनी—आधुनिक हिन्दी काव्य की अनेक अनुपम कृतियाँ हैं : आप उन्हें संस्कृत या अँग्रेज़ी के किस काव्य-रूप के अन्तर्गत लक्षण-बद्ध करेंगे ? गद्य में भी इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र है : शुक्ल जी के या सियारामशरण के निबन्धों को, अथवा महादेवी के रेखा-चित्रों को आप

बलात् 'ऐसे' की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे ? भारतीय और पाश्चात्य नाटच-विधान के आरोप के प्रसाद के कारण नाटकों के साथ कितना अन्याय होता रहा है ? मैंने अनेक साहित्य-मर्मज्ञों को यह कहते सुना है कि शेखर उपन्यास नहीं है, वह उपन्यास और जीवनी के बीच की कोई वस्तु है। यहाँ कदाचित् आपके या किसी के मन में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि कहीं मैं इन ग्रन्थों को आदर्श साहित्य-रूप मान लेने की सिफ़ारिश तो नहीं कर रहा हूँ। नहीं, मैं इनके दोषों की उपेक्षा नहीं करना चाहता—और न इन्हें परिपूर्ण ही मान कर चलता हूँ। मेरा मन्तव्य केवल यही है कि हिन्दी आलोचना-शास्त्र का विकास हिन्दी के आलोच्य साहित्य से निरपेक्ष होकर नहीं होना चाहिए। उसके निर्माण और विकास के लिए अनेक परिपुष्ट आधार विद्यमान हैं : आज उसके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है। यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि हिन्दी साहित्य की परम्परा को आधार मान कर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल और कवि प्रसाद के विवेचन में मिल जाता है : शुक्ल जी ने भारतीय सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अनुसार विवेचन-आख्यान किया है और प्रसाद जी ने पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय चिन्ता-पद्धति के अनुसार।

इस प्रकार आरम्भ में मैंने जो चार प्रश्न उठाये थे—उनमें से तीन का उत्तर मैं अपने मतानुसार दे चुका। अब चौथा प्रश्न शेष रह जाता है। उसका उत्तर देकर मैं इस वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ। आज, जब प्रादेशिक भावनाएँ भारतीय चेतना में संश्लिष्ट हो रही हैं, इस प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक तथा उपयोगी होगा ? इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक नहीं हो सकता। इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्र-भाषा पद पर आसीन होने के उपरान्त हिन्दी साहित्य तथा भाषा दोनों का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है, परन्तु हिन्दी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिएँ जो मनोविज्ञान आदि में व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण में उपलब्ध सभी तत्त्वों का उचित उपयोग आवश्यक होता है, परन्तु आधार व्यक्तित्व की मूल-प्रवृत्तियाँ ही रहती हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में निहित भारतीय परम्पराओं तथा पाश्चात्य चिन्ता-धाराओं के पोषक तत्त्वों के द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है किन्तु उसका आधारभूत व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए : इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व का विकास ही श्रेयस्कर है।

व्यक्तित्व खोकर विकास कैसा ? संस्कृत काव्य-शास्त्र का भाण्डार अत्यन्त विभूति-सम्पन्न है, इसमें कौन संदेह कर सकता है—भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रसरित यह समृद्धि हमारी अमूल्य थाती है : उसका उचित अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उधर प्लेटो से लेकर क्रोचे तक विस्तृत चिंता-धारा भी हमें विदेशी शोषण की क्षतिपूर्ति में मिली है, उसका भी हमारा ज्ञान बड़ा कच्चा है। इन अभावों की पूर्ति के लिए हिन्दी के मेधावी आलोचकों के सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है : और उनके लिए यह कार्य किसी प्रकार दुष्कर नहीं है, क्योंकि यदि आप आत्म-श्लाघा न मानें तो मैं एक बार फिर निवेदन कर दूँ कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य आज कदाचित् उसका सबसे पुष्ट अंग है। इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना-शास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा जिसका मूल आधार होगा, हिन्दी के माध्यम से काव्य के चिरन्तन सत्यों का अनुसन्धान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों की समृद्ध परम्पराओं से पोषण प्राप्त करेगा, परन्तु उनकी व्याख्या या अनुवाद मात्र होकर नहीं रह जायेगा।

: तीन :

अनुसन्धान का स्वरूप

हिन्दी में रिसर्च के लिए अनुसन्धान, अन्वेषण, शोध तथा खोज आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। यहाँ स्थूलतः ये सभी शब्द प्रायः पर्याय ही माने जाते हैं परन्तु संस्कृत मे इनके अर्थों में सूक्ष्म अन्तर है। अनुसन्धान का अर्थ है परिपृच्छा, परीक्षण, समीक्षण आदि। सन्धान का अर्थ है दिशा और अनु का अर्थ है पीछे : इस प्रकार अनुसन्धान का अर्थ हुआ किसी लक्ष्य को सामने रख कर दिशा-विशेष मे बढ़ना—पश्चात्-गमन, अर्थात् किसी तथ्य की प्राप्ति के लिए परिपृच्छा, परीक्षण आदि करना। अन्वेषण का अर्थ है खोज—किसी वस्तु अथवा तथ्य को ढूँढ़ने का प्रयत्न। गवेषणा भी प्रायः यही है—खोजने अथवा ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न : व्युत्पत्ति-अर्थ इसका है 'गो का पता लगाना'। शोध का अर्थ है शुद्ध करना, साफ़ करना, स्वच्छ रूप देना। खोज के माने हैं ढूँढ़ना; अज्ञात का ज्ञान करना-कराना, लापता का पता लगाना। अतएव इस प्रसंग में हमारे समक्ष तीन तथ्य उपस्थित होते हैं : (१) अन्वेषण अथवा गवेषणा अर्थात् अज्ञात का ज्ञापन : दूसरे शब्दों में लुप्त एवं गुप्त सामग्री को प्रकाश में लाना। (२) अनुसन्धान अर्थात् परिपृच्छा, परीक्षण-समीक्षण आदि—उपलब्ध सामग्री की जाँच-पड़ताल आदि इसके अन्तर्गत आती है। (३) शोध अर्थात् शुद्ध करना—इसके अन्तर्गत आता है प्राप्त सामग्री का संस्कार-परिष्कार। जिस प्रकार कोई धातु-शोधक उपलब्ध खनिज पदार्थों को स्वच्छ और शुद्ध करके हमारे सम्मुख रखता है इसी प्रकार साहित्यिक शोधकर्त्ता भी अपनी उपलब्ध सामग्री को शुद्ध करके परिष्कृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

इस विवेचन के परिणाम-स्वरूप दो बातें स्पष्ट होती हैं : एक तो यह कि हिन्दी में प्रयुक्त भिन्न-भिन्न शब्द संस्कृत-शब्दार्थ की दृष्टि से अनुसन्धान-कार्य के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्त करते हैं : अन्वेषण अथवा गवेषणा से अनुपलब्ध सामग्री को उपलब्ध करने का बोध होता है, अनुसन्धान से परीक्षा-समीक्षा का, और शोध से विवेचन, निर्णय, निष्कर्ष-ग्रहण आदि का। और, वास्तव में अनु-सन्धान-कार्य के तीन संस्थान भी ये ही हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति

में इस प्रसंग में एक शब्द का व्यवहार स्थिर हो जाना चाहिए, और मैं समझता हूँ कि 'अनुसन्धान' शब्द को ही व्यापक अर्थ में पारिभाषिक रूप दे देना चाहिए।

अनुसन्धान के विषय में विश्वविद्यालय भी—जहाँ यह कार्य नियमित रूप से होता है—प्रायः उपर्युक्त इन्हीं बातों पर बल देते हैं।

अनुसन्धान-ग्रन्थ को निम्नलिखित उपबन्धों की पूर्ति करनी चाहिए :

१. इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसन्धान किन अंशों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय विशेष के अध्ययन को कहाँ तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार संतोष-प्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

[आगरा यूनिवर्सिटी पी. एच-डी. नियमावली, पृ० ४]

आगे चलकर डाक्टर ऑफ़ लैटर्स के प्रसंग में भी प्रायः इन्ही विशेषताओं का उल्लेख है—केवल एक बात नयी है ? वहाँ 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी. लिट. की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्व-विद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसन्धान के तीन तत्त्व हैं :

१. अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण

२. उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान

३. ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता

४. इनके अतिरिक्त, एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रति-पादन-शैली।

इसमें सन्देह नहीं कि सामान्यतः ये चारों ही तत्त्व अनुसन्धान-कार्य के लिए आवश्यक हैं, परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि इन सबका सापेक्षिक महत्त्व कितना है—अर्थात् इन चार तत्वों में से किसका कितना महत्व है ? जहाँ तक तीन और चार का सम्बन्ध है उनकी अनिवार्यता तो स्वतःसिद्ध ही है क्योंकि प्रत्येक अनुसन्धान-कार्य द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार अनिवार्यतः होना ही चाहिए तभी उसकी सार्थकता है; मौलिकता तो केवल अनुसन्धान की ही नहीं

किसी भी साहित्यिक कृति, अपितु जीवन के किसी भी गम्भीर कार्य के मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी है। इसी प्रकार विषय का सुष्ठु प्रतिपादन भी प्रत्येक कृति के लिए अनिवार्य ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मौलिकता और शैली-सौष्ठव का स्वरूप सर्वत्र एक-सा न होकर विषय-सापेक्ष्य ही होता है। अब पहला और दूसरा तत्त्व रह जाते हैं अर्थात् अनुपलब्ध अथवा नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान। इनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका सापेक्षिक महत्त्व बहुत कुछ अनुसन्धान के विषय पर निर्भर है। यदि समग्र वाङ्मय को लें तो स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयों के अनुसन्धान में तथ्य का महत्व अधिक है और साहित्यिक विषयों के अनुसन्धान में विचार का। कुछ विषय ऐसे भी हैं जो विज्ञान और साहित्य के मध्यवर्ती हैं, जैसे इतिहास – और उससे सम्बद्ध नृतत्त्व-शास्त्र, पुरातत्त्व-शास्त्र आदि अनेक विषय; समाज-शास्त्र तथा उससे सम्बद्ध अर्थ-शास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि। इनमें अनुसन्धान कार्य की स्थिति भी मध्यवर्ती माननी चाहिए अर्थात् उसमें तथ्य और विचार दोनों का ही महत्त्व रहता है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह यह कि उपर्युक्त विषय-विभाजन और उससे संलग्न तथ्य और विचार का अंतर निर्भ्रान्त एवं अंतिम नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न विषय—विज्ञान और साहित्य आदि—एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हैं, इसी प्रकार तथ्य और विचार भी एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण, विभाजन आदि में सापेक्षिक प्राधान्य ही प्रमाण रहता है।

साहित्यिक अनुसन्धान

हमारा विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही है अतएव हम अपने विवेचन को उसी तक सीमित रखेंगे। अब तक के विवेचन मे तीन बातें हमारे सामने आती हैं:

१. (क) अन्वेषण, (ख) अनुसन्धान या पुनराख्यान, (ग) मौलिकता और (घ) प्रतिपादन-सौष्ठव—अनुसन्धान के ये चार आवश्यक तत्व हैं।

२. विषय का और अनुसन्धान का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् अनुसन्धान के स्वरूप पर अनुसन्धेय विषय का निश्चित ही प्रभाव पड़ता है। अनुसन्धान का कोई निरपेक्ष अथवा सर्व-सामान्य स्वरूप नहीं है, और परिणामतः अनुसन्धाता के लिए प्रत्येक स्थिति में कोई एक दृष्टिकोण निर्धारित कर देना सम्भव नहीं है। द्रष्टा को अपने विषय में से ही दृष्टि प्राप्त करनी होगी—एक ही दृष्टि से सभी

विषयों का निरीक्षण-परीक्षण करना असंगत होगा।

३. अतएव [illegible] में अन्वेपण, आख्यान, मौलिकता और प्रतिपादन-सौष्ठव का स्वरूप एक-सा नहीं है—वह विषय के अनुसार बदलता रहता है।

इन्हीं मान्यताओं के आधार पर साहित्यिक अनुसन्धान का स्वरूप-विश्लेषण करना समीचीन होगा। अस्तु !

अन्वेषण

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया है, अन्वेषण का अर्थ है, खोज। साहित्य में अन्वेषण के कई अर्थ और कोटियाँ हो सकती हैं :

१. अज्ञात का ज्ञान—अज्ञात लेखकों तथा ग्रन्थों आदि का अन्वेषण इसके अन्तर्गत आता है। अज्ञात लेखकों और ग्रन्थों से तात्पर्य ऐसे लेखकों और ग्रन्थों से है जिनका अस्तित्व अभी तक अज्ञात है।

२. अनुपलब्ध की उपलब्धि—इसके अंतर्गत ऐसी सामग्री का अन्वेषण आता है जिसके अस्तित्व के विषय में तो ज्ञान है, पर जो साधारणतः प्राप्त नहीं है। हिन्दी में इस प्रकार के अन्वेषण के लिए असीम क्षेत्र है।

३. उपलब्ध का शोधन—नवीन तथ्यों के अन्वेपण द्वारा प्रचलित तथ्यों का संशोधन इसके अन्तर्गत आता है। उदाहरण के लिए तुलसी, सूर आदि के जीवन-चरित के विषय में इस प्रकार का संशोधन निरन्तर होता रहा है और कदाचित् उसके लिए और भी अवकाश है। इसके अतिरिक्त पाठाध्ययन, पाठ-संशोधन, संपादन भी इसी कोटि में आते हैं।

४. विचार या सिद्धान्त का अन्वेषण—किसी विचार-परम्परा का विकास-क्रम निर्दिष्ट करना इस कोटि में आता है।

५. शैली या रूप-विधान-विपयक अन्वेषण—यों तो शैली या रूप-विधान विचार अथवा दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब होता है और इस दृष्टि से यह रूप मूलतः विचार-विपयक अन्वेषण से भिन्न नहीं है; फिर भी साहित्य में शैली या रूप-विधान का स्वतन्त्र महत्व होने के कारण इसे पृथक् मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। और, साहित्य में निस्सन्देह इस प्रकार के अन्वेषण का महत्व है। उदाहरण के लिए पं० पद्मसिंह ने संस्कृत-प्राकृत से शृंगार-मुक्तक परम्परा का उद्घाटन कर बिहारी सतसई अथवा अन्य शृंगार-मुक्तक-काव्यों के व्याख्यान में, और इधर राहुल जी ने स्वयम्भू रामायण आदि के साथ रामचरित-मानस की शैली का सम्बन्ध स्थापित कर मध्य-युगीन चरित-काव्यों के अध्ययन में एक

नवीन अध्याय जोड़ दिया है ।

६. साहित्यिक अनुसन्धान मे अन्वेपण का एक प्रकार और भी होता है. वह है भाव, प्रसंग अथवा प्रबन्ध-कल्पना-विषयक अन्वेषण । इसके अन्तर्गत अन्वेषक इस बात की खोज करता है कि परवर्ती कवि या लेखक भावाभिव्यंजना अथवा प्रसंग-विधान में अपने पूर्ववर्ती कवियों के कहाँ तक ऋणी है । कुन्तक ने कवि की दृष्टि से इस प्रकार की मौलिक नियोजनाओं का वर्णन प्रसंग-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता के अंतर्गत किया है । इस प्रसंग-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता से सम्बद्ध अन्वेषण साहित्य-शोधक के लिए विशेष महत्व रखता है । परन्तु कदाचित् इसे अन्वेषण का एक स्वतन्त्र रूप न मान कर अंशतः विचार-सम्बन्धी अन्वेषण और अंशतः शैली-सम्बन्धी अन्वेषण के अंतर्गत ही मान लेना अधिक समीचीन होगा ।

आख्यान अथवा पुनराख्यान

आख्यान का अर्थ है व्याख्या करना—स्पष्टीकरण करना, निहित अर्थ को विहित करना; तथ्य अथवा तथ्यों के आख्यान का अर्थ है उनके पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करना—दूसरे शब्दों में तथ्यों को विचार में परिणत करना । नवोपलब्ध तथ्य का आख्यान, और पूर्वोपलब्ध तथ्य का पुनराख्यान होता है । साधारणतः सभी प्रकार के अनुसन्धान-कार्य के लिए और विशेषतः साहित्यिक अनुसन्धान-कार्य के लिए आख्यान अथवा पुनराख्यान का अनिवार्य महत्व है क्योंकि तथ्य अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण नही है—वास्तविक महत्त्व तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध-ज्ञान का है । उद्योग के क्षेत्र में वस्तु या तथ्य का महत्त्व कितना ही हो परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में तो ज्ञान का ही महत्व है । प्रस्तुत प्रसंग में भी, जहाँ अनुसन्धान का मूल लक्ष्य है ज्ञान का सीमा-विस्तार वास्तविक महत्त्व निस्सन्देह ही ज्ञान का है क्योंकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु या तथ्य नहीं कर सकता वस्तु या तथ्य का सम्बन्ध-ज्ञान ही कर सकता है। वैसे भी यदि आप देखिए तो सभी विद्याएँ अन्त में जाकर दर्शन का रूप धारण कर लेती हैं—जिनमें यह सम्भावना नहीं है, उन्हें हमारे शास्त्र में हीनतर कोटि की उप-विद्याएँ माना गया है; और वास्तव में दर्शन कोई विशिष्ट विषय न होकर सत्य-विचार का एक सामान्य विधान ही तो है ।

साहित्य के क्षेत्र में तो यह बात और भी अधिक घटित होती है क्योंकि साहित्य ज्ञान के सूक्ष्मतर माध्यमों में से है । अतएव साहित्य के क्षेत्र में तो वस्तु अथवा तथ्य का स्वतन्त्र महत्व और भी कम तथा ज्ञान अर्थात् विचार एवं भाव का महत्व और भी अधिक है । यहाँ तो अन्वेपण का रूप भी तथ्यात्मक न होकर

विचारात्मक होना चाहिए—आख्यान तो उसकी पहली आवश्यकता है। यह आख्यान जितना मूलवर्ती और सूक्ष्म-गहन होगा, अनुसन्धान उतना ही मूल्यवान होगा। यह अपेक्षाकृत मौलिकता और सूक्ष्मता ही साहित्य तथा अन्य विषयों के आख्यान का अंतर स्पष्ट कर देती है। कतिपय अन्य क्षेत्रों में साधारण आख्यान से काम चल सकता है—क्योंकि जहाँ आधारभूत तथ्य अथवा वस्तु मूर्त है—वहाँ उनके पारस्परिक मूर्त-सम्बन्धों का उद्‌घाटन पर्याप्त हो सकता है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में, या उसके भी आगे दर्शन के क्षेत्र में, जहाँ आधारभूत तथ्य अमूर्त है—अथवा विचार तथा अनुभूति-रूप है, वहाँ बाह्य सम्बन्ध-ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त और बहुत-कुछ निरर्थक ही रहता है। साहित्य की आधारभूत सामग्री, जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है निर्जीव और जड़ तथ्य नहीं होते, और न केवल तर्क-गम्य विचार या सिद्धान्त ही उसके उपकरण होते हैं—उसके उपादान तो जीवन्त अनुभूतियाँ या अनुभूति-मूलक विचार अथवा सत्य ही होते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यिक आख्यान न स्थूल गणनात्मक होगा और न कोरा तर्कवाद ही—उसका लक्ष्य तो मूलभूत अनुभूतियों को प्रकाश में लाकर साहित्य तथा साहित्यकार की आत्मा का [illegible] ही हो सकता है। जब तक आख्याता में साहित्य की आत्मा का साक्षात्कार करने-कराने की क्षमता न हो तब तक वह साहित्य का आख्यान करने का अधिकारी नहीं हो सकता क्योंकि साहित्य मर्म की वाणी है—अवयवों की गणना नहीं है। अतएव जो मर्म को न छू कर केवल शरीर पर ही हाथ फेरता रहे वह साहित्य का मर्मी नहीं हो सकता। जो अन्तर्दर्शन न कर सके वह द्रष्टा कैसे हो सकता है? वह तो गणक ही रहेगा।

इस प्रसंग में अनायास ही मुझे अपने एक सम्मान्य मित्र का तर्क याद आ जाता है। अनुसन्धान के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने मेरी उपर्युक्त स्थापना के उत्तर में कहा था कि यह [illegible] की बातय वैज्ञानिक अनुसन्धान-पद्धति से बाहर है—यह तो छायावादी कल्पना है। और यह परिहास नहीं था। यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जो तथ्य को ही अंतिम प्रमाण मानता है। इस मान्यता के अनुसार अनुसन्धाता को अपनी दृष्टि निरंतर तथ्य पर ही रखनी चाहिए—उसके सभी निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ तथ्यगत (फैक्चुअल) होनी चाहिएँ। तथ्य ही उसका मार्ग-निर्देशन करें वह तथ्यों का मार्ग निर्देशन न करे। इसका अर्थ यही हुआ कि अनुसन्धाता का दृष्टिकोण शुद्ध वस्तुगत होना चाहिए—उसमें आत्मगत अथवा भावगत तत्त्वों के लिए कोई स्थान नही है। सामान्यतः तो यह मान्य ही होना चाहिए: इसमें संदेह नहीं कि गवेषणा-विवेचना के लिए वस्तु-परक निर्लिप्त दृष्टि सर्वथा वांछनीय ही है। फिर भी ये शब्द पारिभाषिक एवं धारणा-

त्मक है—इनका अर्थ सर्वथा मूर्त अथवा ऋजु-रूढ़ नहीं है। इसलिए इनकी व्याख्या अपेक्षित है। वस्तु-परक अथवा तथ्य-परक दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि द्रष्टा या समीक्षक वस्तु अथवा तथ्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है—वह वस्तु या तथ्य को उसके अपने रूप में ही देखता और प्रस्तुत करता है, उस पर अपनी मनसा का आरोप नहीं करता, उसमें अपने भावों या विचारों का रंग नहीं देता। वस्तु-परक समीक्षक केवल उसीको ग्रहण करता है जो उसे तथ्यों से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होता है—वह अपनी कल्पना को तथ्यों का प्रसव नहीं करने देता। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है : निर्मुक्त दृष्टि से जगत का यथार्थ दर्शन करना विज्ञान का लक्ष्य है—विज्ञान के लिए जगत अथवा प्रकृति या पदार्थ ही मुख्य है, आत्मा नहीं। प्रकृति ही आत्मा का उपबन्धन (कण्डिशनिंग) करती है, आत्मा प्रकृति का नहीं। तथ्य-परक दृष्टिकोण इसी सिद्धान्त का प्रोद्भास है। इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त मान्यता में बहुत-कुछ सार है, परन्तु फिर भी इसका तत्त्व-विश्लेषण करना आवश्यक है, और कम-से-कम इसके अतिवाद से बचना चाहिए। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या विज्ञान का यह सिद्धान्त हमें यथावत् मान्य है कि प्रकृति ही आत्मा का उपबन्धन करती है। जहाँ तक भारतीय जीवन-दर्शन का सम्बन्ध है, इस प्रकार का सिद्धान्त प्रायः अमान्य ही है—इसका निर्वाह सांख्य भी अंत में नहीं कर पाया। जगत और जीवन के सभी रूपों की परीक्षा करने के उपरांत भारतीय दर्शन अंत में आत्मवाद पर ही जाकर रुका है।

उधर पाश्चात्य दृष्टि में भी अभी तक प्राधान्य आत्मवाद अथवा आदर्शवादी चिन्ताधारा का ही है। द्रष्टा के व्यक्तित्व से असम्पृक्त दृश्य अपने आप में जड़ है। जब तक हम अपनी आँख के रंग और प्रकाश को वस्तु के रूप पर प्रभाव डालने से नहीं रोक सकते तब तक हमारे लिए अपने दृष्टिकोण को शुद्ध अनात्म-परक एवं निर्लेप बनाने का गर्व अनुचित है। मेरा यह तर्क साहित्य पर तो और भी अधिक लागू होता है क्योंकि साहित्य का तो निर्माण ही मूलतः भाव-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व से होता है। अतएव साहित्यिक आख्याता के लिए तो रूढ़ार्थ में शुद्ध निस्संग या निर्लेप दृष्टि एक अर्थवाद के रूप में ही मानी जा सकती है। जहाँ दृश्य (अर्थात् साहित्य) आत्म-परक है, जहाँ दर्शन की प्रक्रिया आत्म-परक है क्योंकि साहित्य का दर्शन बाह्य संवेदनमय न होकर चेतनामय ही होता है वहाँ दृष्टि, रूढ़ अर्थ में, अनात्म-परक कैसे हो सकती है ? अतएव वस्तु-परक, निर्लेप, निस्संग अथवा अनात्म-परक शब्दों का साहित्य के प्रसंग में रूढ़ प्रयोग असंगत है। हाँ, इन्हें अर्थवाद के रूप में ग्रहण करना सर्वथा समीचीन ही

नहीं वरन् आवश्यक भी है । अर्थवाद के रूप में वस्तु-परक या अनात्म-परक दृष्टि से तात्पर्य यह है कि आख्याता को विषय पर अपने राग-द्वेष का आरोप नहीं करना चाहिए, अपने पूर्वग्रहों को यथासम्भव दूर रखना चाहिए—कम-से-कम उनमें लिप्त नहीं होना चाहिए, तथा अपनी कल्पना का [illegible] संयमन करना चाहिए । इसके अतिरिक्त इसका एक सूक्ष्मतर अर्थ भी है—वह है अपने प्रति ईमानदारी । आत्म-परक या भाव-परक दृष्टिकोण का प्रायः आत्म-प्रवंचन में स्खलन हो जाता है : वस्तु-परक दृष्टि की स्पृहा इसी स्खलन का सफल निवारण है । अतएव आहित्यिक आख्यान में वस्तु-परकता का अर्थ है—अपने प्रति ईमानदारी, संयम तथा संतुलन । उसके अर्थ को इसके आगे खींचना साहित्य के मर्म पर आघात करना है ।

मौलिकता

मौलिकता अनुसंधान का प्राण-तत्व है । परन्तु इसका स्वरूप भी विषय-सापेक्ष्य है, और साथ ही इसकी कई कोटियाँ भी हैं । स्वरूप की विषय-सापेक्ष्यता का अर्थ यह है कि विज्ञान और [illegible] मौलिकता प्रायः समान नहीं होती । विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में जहाँ तथ्य का आविष्कार तथा अन्वेषण अत्यंत महत्वपूर्ण है वहाँ साहित्य के क्षेत्र में उसका उतना अधिक मूल्य नहीं है । इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन हस्त-लिखित लेख, ग्रंथ आदि की शोध, या उसके भी आगे साहित्य-सम्बन्धी तथ्यों की शोध का भी अपना महत्व है और वह अत्यंत वांछनीय है, परन्तु वह आधार ही रहेगा, आधेय नहीं हो सकता; वह अधिक से अधिक दूध ही रहेगा—नवनीत नहीं बन सकता । नवनीत तो विचार ही है जो मंथन के उपरान्त ही प्राप्त हो सकता है । साहित्य का अनुसन्धेय यही है, और यही उसकी मौलिकता का मानदंड भी । कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मौलिकता का माप तथ्य का अन्वेषण मात्र नहीं है, उसका माप है तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्वेषण अथवा उद्घाटन जो अनिवार्यतः विचार-रूप ही होगा । इस लिए साहित्य के किसी गवेषणात्मक निबंध को केवल इस आधार पर अस्वीकृत करना न्याय्य नहीं है कि वह अन्वेषणात्मक नहीं है, आलोचनात्मक है; क्योंकि मौलिक आलोचना भी अन्वेषण ही है वरन् यह कहिए कि साहित्य के क्षेत्र में तो आलोचना अन्वेषण का और भी उत्कृष्ट एवं मौलिक रूप है । वास्तव में उपर्युक्त तर्क ही एक असाहित्यिक तर्क है । साहित्य के क्षेत्र में इसके दो दुष्परिणाम होते हैं : एक तो यह कि इस प्रकार मूल्यों का विपर्यय हो जाता है—ग़लत चीज़ पर बल दिये

जाने से सही चीज़ का महत्व घट जाता है। साहित्य में गणनात्मक तथ्य-संकलन ज़ोर पकड़ जाता है, मर्म-ज्ञान उपेक्षित हो जाता है। साहित्यिक अनुसंधान की यह प्रवृत्ति अत्यंत चिंत्य है। दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि आधुनिक साहित्य अथवा समसामयिक साहित्य इस दृष्टि से अनुसंधेय नहीं रह जाता। कामायनी; या मैथिलीशरण गुप्त, पंत, निराला, महादेवी के काव्य अनुसंधान के विषय नहीं बन सकते और वास्तव में अनेक विश्वविद्यालयों में जीवित साहित्यकारों अथवा समसामयिक साहित्य के अध्ययन पर वैधानिक प्रतिबंध लगा हुआ है। पहली प्रवृत्ति जितनी चिन्त्य है, यह दूसरी प्रवृत्ति उतनी ही उपहास्य है।

इस संदर्भ में दूसरा विचारणीय विषय है मौलिकता की विभिन्न कोटियाँ। मौलिकता की सर्वोच्च कोटि है [illegible]—[illegible] में आविष्कार का अर्थ है नवीन सिद्धान्त का आविष्कार। यह कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही दुष्कर भी। सिद्धान्त के आविष्कर्ता अत्यन्त ही विरल होते हैं—किसी एक देश के नहीं, विश्व के साहित्य में भी इनकी संख्या सदैव नगण्य ही रहती है। प्राचीन काल में भरत, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, उधर अरस्तू, लांजाइनस आदि, और आधुनिक युग में फ्रायड, क्रोचे, आदि ही इस गौरव के अधिकारी हैं। द्वितीय कोटि में "पुनराख्यान" आता है। यहाँ नवीन सिद्धान्त का आविष्कार या अन्वेषण नहीं होता, किसी मान्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त के पुनराख्यान में ही मौलिक शक्ति का विकास मिलता है। किसी ज्ञात विचार या सिद्धान्त की नवीन व्याख्या एवं प्रयोग-उपयोग में भी उच्च कोटि की मौलिकता निहित रहती है। उदाहरण के लिए अभिनवगुप्त का महत्व नवीन सिद्धान्त-प्रचलन पर आधृत नहीं है—आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त या भरत के रस-सिद्धान्त के गम्भीर व्याख्यान में ही उनकी मौलिकता का विकास हुआ है; और संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास प्रमाण है कि अभिनव का महत्व आनन्दवर्धन से कम नहीं है। विदेश के अनेक आचार्यों—और हिन्दी में शुक्लजी के लिए भी, यही कहा जा सकता है। मौलिकता की एक तीसरी कोटि भी मानी जा सकती है—परन्तु यह मौलिकता का स्थूल अथवा बाह्य रूप ही है। तथ्यान्वेषण, पाठ-शोध, पाठाध्ययन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। इनका भी अपना महत्व है क्योंकि इनके लिए भी एक विशिष्ट मानसिक शिक्षण और श्रम तथा संलग्नता की अपेक्षा होती है। परन्तु फिर भी इन्हें मौलिकता की उच्च कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इनमें तथ्य-शोध ही रहता है, तत्व-शोध नहीं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के

निबन्धों को भी मौलिकता की दृष्टि से इसी कोटि-क्रम में रखा जा सकता है : मेरा अभिप्राय उन निबन्धों से है, जिनका प्रतिपाद्य नवीन नहीं होता अर्थात् विचार नवीन नही होते, जिनमें आख्यान भी नवीन नही होता परन्तु प्रतिपादन नवीन होता है। इनमें आविष्कार अथवा उद्घाटन नही होता, प्रकाशन मात्र होता है। परन्तु इसका भी अपना महत्व है ही; कम से कम यह ग्रहण-शक्ति का द्योतन तो करता ही है। इसलिए साहित्य के अध्ययन में इस प्रकार के निबंधों का भी अपना मूल्य है, और मौलिकता की कोटि से उन्हें बहिष्कृत नहीं किया जा सकता, भले ही उनकी मौलिकता निम्न कोटि की ही क्यों न हो।

हमारे आचार्यों ने साहित्य के तीन हेतु माने हैं। शक्ति, निपुणता और अभ्यास। इन तीनों का महत्व भी इसी क्रम से माना गया है : अर्थात् शक्ति का महत्व सबसे अधिक, निपुणता का उसके बाद और अभ्यास का सबसे बाद। मौलिकता की उपर्युक्त कोटियों को भी इन्हीं तीन गुणों के समानान्तर माना जा सकता है। आविष्कार "शक्ति" का द्योतक है, पुनराख्यान "निपुणता" का और तथ्य-शोधन, पाठाध्ययन, प्रतिपादन आदि "अभ्यास" के आश्रित हैं।

: चार :

केशवदास का आचार्यत्व

प्रिय गोपालदास,

तुम्हारा पत्र मिला। विषय मेरे अनुकूल है और सुकर भी। सुकर इसलिए कि अभी कुछ दिन पूर्व मैंने अपने विद्यार्थियों के समक्ष केशव के आचार्यत्व पर भाषण दिया था। मेरे आलोचक और अध्यापक का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है—दोनों का विकास भी साथ-साथ हुआ है, इसलिए मेरी आलोचना-पद्धति निर्णय की अपेक्षा व्याख्यान-विश्लेषण को ही अधिक ग्रहण करती रही है। मेरा आलोचक काव्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, काम-शास्त्र आदि का अध्ययन करने जहाँ-जहाँ गया है, अध्यापक उसके साथ-साथ गया है। अब विश्वविद्यालय में आकर उनका साहचर्य और भी घनिष्ठ हो गया है। पहले परोक्ष रूप से मेरे सामने शिष्य-वर्ग रहा करता था—अब साक्षात् जिज्ञासु-समाज उपस्थित रहता है।—इसलिए मैं तुम्हें अपने उस भाषण का ही एक अभिलेख भेज रहा हूँ—थोड़ा व्यक्तिगत हो गया है, परन्तु उससे विषय की हानि नहीं हुई।

सवा ग्यारह पर घंटा बजा और मैं क्लास की ओर चल दिया: क्लास के बाहर पहुंचते ही मैंने देखा कि आशा स्याही से रँगे हुए हाथों को धोने के लिए जा रही थी—मुझे देखकर ठिठक गई और कदाचित् उसे यह निर्णय करने में देर लगी कि आगे जाए या कक्षा में ही लौट आये। मैंने हाज़िरी लेना शुरू किया—जिसके उत्तर में 'यस सर' या 'यस प्लीज़' की आवाज़ें आने लगीं। 'यस प्लीज़' का रहस्य कुछ दिन तक मेरी समझ में नहीं आया था: हम लोग अपने विद्यार्थी-जीवन में 'यस सर' के ही अभ्यस्त थे—'यस प्लीज़' कदाचित् व्याकरण-सम्मत भी नहीं है। वैसे भी मेरी धारणा रही है कि 'सर' सम्बोधन का अधिकारी गुरु से अधिक और कोई नहीं है। अपने सरकारी जीवन में, जहाँ 'सर' का एक विशिष्ट औपचारिक महत्व है और सुनते हैं कि ज्येष्ठ अधिकारी विधि के बल से अपने अधीनस्थ अधिकारी को 'सर' कहने के लिए बाध्य कर सकता है, मुझे अपने समवयस्क तथा विद्या, बुद्धि और वय में

अपने से हीनतर व्यक्तियों के प्रति इसका प्रयोग करने में बड़ी कठिनाई होती थी। विश्वविद्यालय में ऐसे छात्र-छात्राओं के मुख से, जो स्वभाव मे अत्यन्त विनीत और श्रद्धावान थे, 'यस प्लीज़' सुनकर थोड़ा आश्चर्य हुआ था और मेरा विश्लेषणशील मन तुरंत ही उसका कारण खोजने लग गया था। पहले तो मैं समाज-शास्त्री आलोचक की भाँति इस प्रश्न का समाधान राजनीतिक-सामाजिक कारणों में ढूंढ़ने लगा। मेरा विद्यार्थी और अध्यापक-जीवन परतंत्र भारत में व्यतीत हुआ था—ये स्वतंत्र भारत के छात्र-छात्राएँ हैं—देश-काल के प्रभाववश इन्होंने कदाचित् दास्य-भाव का त्याग कर सख्य-भाव का ग्रहण कर लिया है : हम लोग बेचारे तुलसीदास ही थे—ये लोग सूरदास हो गये हैं। परन्तु न जाने क्यों इस समाधान से मेरा मन संतुष्ट नहीं हुआ—मुझे लगा कि जैसे प्रगतिशील समालोचक की भाँति मैंने भी पेट के दर्द का समाधान पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। और वास्तव में इस समस्या का समाधान इतना दूरस्थ नहीं था—आज विश्वविद्यालय के जीवन में सह-अध्ययन के साथ-साथ सह-अध्यापन भी होता है, अतएव 'यस सर' की अभ्यस्त जिह्वा अपने अभ्यास-दोष के कारण पुंवाची सम्बोधन के प्रयोग से कहीं महिला-प्राध्यापक का अपमान न कर दे इस भय से आज का सावधान छात्र सतर्क होकर उभय-वाची 'प्लीज़' का प्रयोग करता है। इस समाधान से मेरा परितोष तो हुआ ही, साथ ही हँसी भी आई और अपने छात्र-जीवन की एक घटना याद आ गई जब हमारी महिला-प्राध्यापक ने 'सर' और 'मैडम' के बीच लड़खड़ाते हुए हम लोगों को डाँट कर कहा था—'ऐड्रैस मी ऐज़ सर'। —खैर, यह तो प्रसंगवश मै यों ही लिख गया। ४–५ मिनट तक हाज़िरी लेने का क्रम चलता रहा—पतली-मोटी, मधुर-कर्कश आवाज़ें मेरे कानों में आती रहीं और मेरा हाथ यंत्रवत् आगे बढ़ता जा रहा था कि बीच में अचानक ही हड़बड़ी के साथ एक तेज़ आवाज़ ने उसे रोक दिया। मैंने आँख उठा कर देखा तो मालूम हुआ कि विमला रानी ने चप्पल घसीटते-घसीटते, समय पर आकर, अपना नाम पकड़ ही लिया। जैसे-तैसे यह कार्य समाप्त हुआ—प्रौक्सी आदि का कोई विघ्न नही पड़ा, उसके लिए कोई अवकाश भी नहीं रह गया था : मैंने औपचारिक रूप से घोषणा कर दी थी कि जिसे काम हो वह चला जाया करे—किन्तु चोर की तरह नहीं भले आदमी की तरह—निश्शंक भाव से। और इस अहिंसा के सामने सुरेशचन्द्र शर्मा और विश्वामित्र जैसे महारथी भी शस्त्र-समर्पण कर चुके थे।

मैंने व्याख्यान आरम्भ किया :

आचार्य शब्द के दो अर्थ हैं : साधारण अर्थ है दीक्षा आदि देने वाला गु

और विशिष्ट अर्थ है किसी सिद्धांत अथवा सम्प्रदाय का प्रवर्तक । धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग इन दोनों अर्थों से सम्बद्ध अन्य अर्थों में भी शिथिलरीति से होने लगा : उदाहरण के लिए शिक्षक या अध्यापक के अर्थ में, विषय-विशेष के निष्णात विद्वान—उस्ताद—के अर्थ में, और भी शिथिल रीति से–विद्वान अथवा पंडित के अर्थ में भी। इस प्रकार आचार्य शब्द का मूल पारिभाषिक रूप आज विकृत हो गया है, फिर भी इसके विषय में एक बात अब भी यथावत् रूढ़ है और वह यह है कि आचार्य का सम्बन्ध शास्त्र से है : आचार्य शास्त्रकार अथवा शास्त्र-गुरु या कम-से-कम शास्त्र-वेत्ता अवश्य होता है । साहित्य के क्षेत्र में भी आचार्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध काव्य से न होकर काव्य-शास्त्र से ही है : काव्य की रचना करने वाला कवि, और काव्य-शास्त्र की रचना करने वाला आचार्य कहलाता है । मिश्र-बन्धुओं ने आचार्य के कर्त्तव्य-कर्म की व्याख्या इस प्रकार की है : "आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी ।" यह आचार्यत्व का अत्यंत स्थूल रूप है । यह वास्तव में रीतिकार का लक्षण है और हिन्दी में उन दिनों आचार्य का अर्थ रीतिकार ही था । केशव के आचार्यत्व का विवेचन करते हुए इन विभिन्न अर्थों को ध्यान में रखना चाहिए : १. शास्त्रकार अर्थात् नवीन काव्य-सिद्धांत या काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तक, २. शास्त्र-भाष्यकार अर्थात् शास्त्र का व्याख्याता तथा रीतिकार एवं कवि-शिक्षक, ३. काव्य-शास्त्र का विद्वान ।

विवेचन का क्षेत्र : केशव ने काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में केवल दो ग्रन्थ लिखे हैं : कविप्रिया और रसिकप्रिया—लाला भगवानदीन जी का अनुमान है कि इन्होंने कदाचित् छंद पर भी एक ग्रन्थ लिखा था, परन्तु वह अप्राप्य है । कविप्रिया का प्रतिपाद्य अलंकार है—इसमें सामान्य और विशेष अलंकारों का अर्थात् वर्ण्यविषय से सम्बद्ध और वर्णन की शैली से सम्बद्ध काव्य-सौन्दर्य के उपकरणों का वर्णन अथवा विवेचन है । रसिकप्रिया रस का ग्रन्थ है । इसमें रस के अंग-उपांगों का—विशेषत: शृंगार रस के अंग-उपांगों का नायिका-भेद सहित विस्तृत वर्णन है । इस प्रकार केशव के प्रतिपाद्य विषय हैं अलंकार और रस—विशेष रूप से शृंगार रस; जिसके अन्तर्गत नायिका-भेद का भी समावेश है । रसिकप्रिया में वृत्तियों का भी संक्षिप्त वर्णन है—सम्भव है छन्द:शास्त्र भी उनका विषय रहा हो और रामचन्द्रिका के लेखक के लिए वह सहज स्वाभाविक ही था । इस प्रकार आठ अंगों में से उन्होंने दो-तीन अंगों का ही विवेचन किया है; कुल मिलाकर उनका क्षेत्र सीमित ही है ।

कालक्रमानुसार रसिकप्रिया की रचना कविप्रिया से पूर्व हुई थी। इसका अभिप्राय [illegible] प्रारम्भ में रसवाद की ओर थी और बाद में प्रौढ़ि प्राप्त कर वह अलंकारवाद की ओर हो गई। मेरे इस वाक्य पर, मैंने देखा, मधुर की दृष्टि जिज्ञासा से चमक उठी—कुछ क्षणों तक उसने इधर-उधर देखा कि कहीं कोई यह तो नहीं समझता कि मैं अपने ज्ञान का प्रदर्शन कर रही हूँ, और फिर प्रश्न किया : 'लेकिन प्रौढ़ि की दृष्टि से तो अलंकारवाद की अपेक्षा रसवाद का ही स्थान ऊँचा है : ज्यों-ज्यों अलंकार-शास्त्र का विकास होता गया त्यों-त्यों अलंकारवाद की अमान्यता और रसवाद की मान्यता की ही पुष्टि होती गई। फिर केशव के विषय में ऐसा किस प्रकार हुआ ?' प्रश्न अत्यन्त सतर्क था। मैंने उत्तर दिया, "हाँ, तुम्हारी शंका ठीक है, यह विकास-क्रम के विपरीत है। उसके अनुसार अलंकारवाद काव्य-शास्त्र की आरम्भिक स्थिति की और रसवाद अथवा रस-ध्वनिवाद उसकी विकसित अवस्था की सिद्धि थी। परन्तु केशव ने अपने यौवन-काल में स्वभाव से रसवाद के अंगभूत शृंगारवाद को ग्रहण किया परन्तु उसके उपरान्त उन्होंने काव्य-शास्त्र का और गहन अध्ययन करते हुए प्रचीनों के मत को प्रमाण मान कर अलंकारवाद को स्वीकार कर लिया।" इसी क्रम से हम पहले केशव के रस-विवेचन की और तदुपरांत अलंकार-विवेचन की समीक्षा करते हैं।

रस-विवेचन : केशव ने यों तो नव-रस का वर्णन किया है, परन्तु उनका मूल प्रतिपाद्य शृंगार ही है जिसे उन्होंने स्पष्ट रूप से रसराज माना है : **"सबको केशोदास हरि नायक है शृंगार।"** अपने मत के पोषण में उन्होंने सभी रसों का समावेश शृंगार में कर दिया है—हास्यादि मित्र रसों का ही नहीं, रौद्र और वीभत्सादि अमित्र रसों का भी उन्होंने शृंगारमय वर्णन किया है। शृंगार का रसराजत्व केशव की अपनी कोई नवीन कल्पना नहीं थी। शताब्दियों पूर्व अग्नि-पुराण, शृंगार-तिलक तथा शृंगार-प्रकाश में उसकी घोषणा हो चुकी थी। अग्नि-पुराण की स्थापना है कि **'शृंगारी चेत्कवि : काव्ये जातं रसमयं जगत्।'** इसकी व्याख्या करते हुए अग्निपुराण के लेखक अथवा सम्पादक ने लिखा है 'आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से रति की जिसके कि शृंगार, हास्य आदि भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं।' इसी की प्रतिध्वनि हमें भोज के शृंगार-प्रकाश में मिलती है। उनका मत है कि विद्वान केवल गतानुगतिकता के कारण ही शृंगार, वीर आदि रसों का वर्णन करते हैं। वास्तव में रस तो केवल एक ही है : शृंगार। हमारा अहंकार ही प्रतिकूल परिस्थितियों के अभाव में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के द्वारा आनन्द-रूप में संवेद्य हो कर

रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति, हास आदि भाव शृंगार से ही उत्पन्न होते हैं—वे स्वयं रसत्व को कभी प्राप्त नहीं होते। वे तो शृंगार की शोभा को बढ़ाते हैं जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की कांति बढ़ाती हैं। इसलिए स्थायी, संचारी आदि का प्रपंच मिथ्या है। शृंगार ही चतुर्वर्ग का कारण है, वही रस है। **'एकोनपंचाशद्भावा वीरादयो मिथ्या रस प्रवादाः शृंगार एवैकः चतुर्वर्गककारणं स रस इति।'** अग्नि-पुराण और शृंगार-प्रकाश की यह स्थापना दार्शनिक आधार पर स्थित है—उसमें जीवन के मौलिक तत्वों के आधार पर शृंगार की महत्ता प्रतिपादित की गई है जो मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की अत्याधुनिक मान्यताओं से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु केशव की दृष्टि उसके मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार तक नहीं पहुंच सकी, उन्होंने केवल एक अर्ध-दार्शनिक अथवा पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए सभी रसों का शृंगार में समावेश कर दिया है।

श्री वृषभानुकुमारि हेतु 'शृंगार' रूपमय।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुणामय'॥
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान, पियो 'बीभत्स' बकी उर॥
अति 'अद्भुत' वंच विरंचि मति, 'शांत' संतते शोच चित।
कहि केशव सेवहु रसिक जन नवरस में ब्रज-राज नित॥

उपर्युक्त स्तुति-छंद में कवि ने नौ रसों का कृष्ण के व्यक्तित्त्व में समावेश कर अपने सिद्धान्त के लिए आधार-भूमि तैयार की है: कृष्ण जिस प्रकार शृंगारमय होते हुए भी नवरस-रूप धारण करते हैं उसी प्रकार शृंगार भी नवरस में परिणत हो सकता है अथवा नवरस का शृंगार के साथ तादात्म्य हो सकता है। परन्तु केशव इस तात्त्विक दृष्टि का निर्वाह नहीं कर सके। रसिकप्रिया के अंत में जहाँ उन्होंने शृंगारेतर रसों के लक्षण उदाहरण दिये हैं, वहाँ वे न तो इनके स्वरूप को स्पष्ट ही कर सके हैं और न इनमें से किसी रस का परिपाक ही कर सके हैं—ये रस संचारी की स्थिति से आगे नहीं बढ़ सके, और कहीं-कहीं तो वे अपने स्वरूप से भी सर्वथा स्वतन्त्र हो गये हैं। उनके करुण में शोक की उद्बुद्धि नहीं होती—केवल कृष्ण अथवा राधिका के प्रति सहानुभूति की भावना का उदय होता है; वहाँ रस का परिपाक ही नहीं है, केवल भाव-दशा है। वास्तव में केशव ने करुण का लक्षण भी परम्परा से थोड़ा हट कर किया है—उन्होंने इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति को करुण का मूल आधार न मानकर प्रिय के विप्रियकरण अर्थात् इष्ट के अनिष्ट को ही माना है। यह लक्षण थोड़ा विचित्र

अवश्य लगता है क्योंकि किसी मान्य आचार्य ने इस प्रकार का लक्षण नही किया। केशव ने या तो किसी अप्रसिद्ध ग्रन्थ के आधार पर इसे ग्रहण किया है, या फिर हमारा अनुमान है कि इष्ट का नाश और अनिष्ट की प्राप्ति का अर्थ उन्होंने 'इष्ट का अनिष्ट' कर लिया है। केशव ने ऐसी अनेक त्रुटियाँ अनेक स्थानों पर की है, अतएव यह शंका भी अनुचित नही है। इसके अतिरिक्त रौद्र, वीर और भयानक का एकान्त शृंगारमय वर्णन है—रौद्र में एक ओर तो सखी द्वारा राधा के मान का निवारण है: 'तेरे अंग के सभी उपमान तो तेरे भय से भाग गये, अब यह रुद्र-रूप तूने किस पर धारण किया है ?' दूसरी ओर रति-रण में कृष्ण के रौद्र-भाव का चित्रण है। इसी प्रकार भयानक में भय का राधा और कृष्ण पर शृंगार-परक प्रभाव दिखाया गया है जिसके कारण कामिनियाँ प्रिय के कंठ से लग जाती हैं।

कुछ छात्र-छात्राओं को इस पर थोड़ी-सी हसी आई, परन्तु अध्यापक की शास्त्र-गम्भीर मुद्रा में किसी प्रकार का मार्दव न देखकर वह यथास्थान विलीन हो गई। फिर भी ललित मोहन की हँसी नहीं रुकी और उसने अपने पास बैठे हुए उमाकान्त और सुरेश गुप्त की ओर देखा। ये दोनों छात्र स्वभाव से गम्भीर थे—ललित के चापल्य-दोष से बचने के लिए इन्होंने खीझ कर उसकी ओर से मुँह मोड़कर और भी संलग्न भाव से नोट लिखने शुरू कर दिये।

वीभत्स में भी शृंगार का ही प्रसंग है फिर भी उसका परिपाक असफल नहीं कहा जा सकता। परन्तु वीभत्स का लक्षण देते हुए केशव ने स्थायी भाव रूप में जुगुप्सा शब्द का प्रयोग नहीं किया; ग्लानि का भी प्रयोग कुछ आचार्यो के अनुसरण पर मान्य हो सकता था, परन्तु केशव ने उसे 'निन्दा-मय' माना है—रसिकप्रिया के टीकाकार सरदार कवि ने 'निन्दा-भय' पाठ की ओर भी संकेत किया है। निन्दा और जुगुप्सा अथवा ग्लानि में बड़ा अंतर है। आत्म-निन्दा ग्लानि का मूल रूप है—दूसरों से भी अपनी निन्दा सुनकर ग्लानि होती है, फिर भी निन्दा और ग्लानि पर्याय नहीं हो सकते। और इसके अतिरिक्त जुगुप्सा में जो शारीरिक संवेदन अंतर्भूत है, उसका तो निन्दा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं है। सारांश यह है कि केशव का रस-विवेचन न तो अधिक तर्क-संगत है और न तात्त्विक। उसमें जो भिन्नता है वह भी किसी तर्क-पुष्ट अथवा मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका कारण प्रायः अपरिपक्व ज्ञान ही है। केशव ने शृंगार की रसराजता का विवेचन न तो अग्निपुराण अथवा शृंगार-प्रकाश की भाँति सूक्ष्म दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है, और न वह अपनी उस मूल कल्पना का ही निर्वाह कर सके

हैं जिसका संकेत उन्होंने अपने मंगल-छन्द में किया है। वह कल्पना भी अपने आप में अत्यन्त सार्थक है—'भगवान मूलतः आनन्द अर्थात् शृंगार-रूप होते हुए भी नाना-रसमय है।' परन्तु केशव से इसका भी निर्वाह नहीं हो सका—अनेकता की मूलवर्ती एकता का ग्रहण भी वे नही कर सके। इसके स्थान पर उन्होंने शृंगार की परिधि के भीतर कुछ अनुभावों की सहायता से रौद्र, वीर, वीभत्स आदि रसों का समावेश करने का असफल प्रयत्न किया है। उनकी इस असफलता का मूल कारण यह है कि किसी रस का परिपाक उसके स्थायी की उद्बुद्धि द्वारा होता है, अनुभाव मात्र के चित्रण से नही। उदाहरण के लिए रति-रण में कृष्ण के रुद्र अनुभाव शृंगार के ही परिपाक में सहायक होते हैं—उनके द्वारा रौद्र रस का परिपाक सम्भव नही है। केशव तथा देव आदि हिन्दी कवियों ने यही मौलिक त्रुटि की है। शृंगार के क्षेत्र में केशवदास ने एक वैचित्र्य प्रस्तुत किया और वह है शृंगार का दो वर्गों में विभाजन : प्रच्छन्न और प्रकाश। परम्परा से भिन्न होते हुए भी यह केशव की अपनी उद्भावना नहीं है—इसके लिए वे भोज के ऋणी हैं। और फिर शास्त्र की दृष्टि से यह विभाजन अधिक मौलिक एवं तर्क-संगत भी नही है क्योंकि प्रच्छन्न और प्रकाश के भेद का निर्वाह शृंगार की सभी स्थितियों में सम्भव नहीं है : प्रौढ़ा स्वकीया का प्रच्छन्न शृंगार सर्वथा कैसे निभ सकता है ? या मुग्धा परकीया का प्रकाश शृंगार सामान्यतः कैसे सम्भव हो सकता है ?

भाव के विषय में भी केशवदास में परम्परा से कुछ वैचित्र्य मिलता है। उन्होंने भाव की परिभाषा भी कुछ विचित्र-सी ही की है और उसके पाँच भेद माने हैं।

परिभाषा :

आनन, लोचन, वचन मग प्रकटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात ॥

इसका अर्थ यह है कि आनन, लोचन और वचन के द्वारा प्रकट होने वाली मन की बात—मनोविकार—ही भाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिभाषा अत्यन्त अस्पष्ट और अपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि भाव मनोविकार का ही नाम है और उसके माध्यम भी दो प्रकार के ही होते हैं : आंगिक और वाचिक। परन्तु यह वर्णन अत्यन्त स्थूल है। सम्भव है केशव ने इसका संकेत नाट्य-शास्त्र से ही ग्रहण किया हो :

वागंग-सत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।

हो सकता है कि केशव ने इसी का अत्यन्त स्थूल अर्थ कर दिया हो क्योंकि

दोनों लक्षणों के शब्दों में बहुत भेद नहीं है : 'काव्यार्थ' के स्थान पर 'मन की बात' का प्रयोग करके केशव ने इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया हो । केशव ने पाँच प्रकार के भाव माने हैं :

भाव सु पाँच प्रकार के, सुनु विभाव अनुभाव ।
अस्थाई सात्विक कहें, व्यभिचारी कवि-राव ।।

यह भी भरत के आधार पर ही किया गया है : भरत ने भी इसी प्रकार विभाव, अनुभाव (जिनके अंतर्गत सात्त्विक भाव भी आ जाते हैं), व्यभिचारी और स्थायी सभी को भाव ही माना है क्योंकि उन सभी के द्वारा काव्यार्थ का भावन होता है । हाव और नायिका-भेद के प्रसंगों में भी केशव ने कुछ विचित्रता दिखाई है, पर उनके प्रायः सभी तथाकथित नवीन भेद विश्वनाथ और भानुदत्त में किसी-न-किसी रूप में मिल जाते हैं । उदाहरण के लिए उन्होंने प्रचलित दस हावों के स्थान पर तेरह हाव माने हैं जिनमें से 'हेला' विश्वनाथ का उसी नाम का अंगज अलंकार है और 'मद' कृति-साध्य अलंकार है । ऐसे ही उदाहरण नायिका-भेद के प्रसंग में दिये जा सकते हैं ।

अलंकार-विवेचन : केशव का दूसरा वर्ण्य विषय है अलंकार । यह सुन कर सुरेशचन्द्र शर्मा ने सोचा कि अभी तो यह पुराण काफ़ी लम्बा मालूम पड़ता है—थोड़ा-सा मध्यावकाश मना लेना चाहिए । इसलिए वे चुपके से नशा-पानी से तरोताज़ा होने के लिए बाहर चले गये । मेरा व्याख्यान चलता रहा : अलंकार के उन्होंने दो वर्ग किए हैं—सामान्य और विशेष । विशेष के चार भेद हैं:

सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास ।
वर्न, वर्न्य, भू-राज-श्री, भूषण केशवदास ।।

अर्थात् वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री । ये वास्तव में वर्ण्य विषय हैं जिनका समावेश इनकी अपनी विषयगत चारुता के कारण काव्य को अलंकृत करता है । दूसरे प्रकार के अलंकार विशिष्टालंकार हैं जिनके अन्तर्गत उपमा-रूपकादि आते हैं—शुक्लजी के शब्दों में वास्तविक अलंकार ये ही हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध वर्णन-शैली से है । हिन्दी के विद्यार्थी के लिए यह वर्गीकरण कुछ नवीन-सा लगता है परन्तु वास्तव में यह पूर्व-ध्वनिकाल के प्राचीन आचार्यों की देन है जो कालान्तर में काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर अमान्य घोषित कर दिया गया था । भामह, दण्डी और वामन आदि प्राचीनों ने अलंकार को करण न मानकर कर्ता माना है । अर्थात् उसे सौन्दर्य का विधायक या एक प्रकार से सौन्दर्य का पर्याय ही माना है । वामन ने स्पष्ट लिखा है **'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः ।'** काव्य की सार्थकता अलंकार से है और

अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य । इस प्रकार ये आचार्य अलंकार्य और अलंकार में भेद नहीं करते—काव्य का विषयगत सौन्दर्य और वर्णन-शैली की चारुता दोनों ही इनके अनुसार अलंकार हैं । इसीलिए दण्डी ने अलंकार को काव्य-शोभा का विधायक तत्व माना है—शोभा की वृद्धि करने वाला सहायक तत्व या साधन नहीं । इस प्रकार कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध सभी बातें अलंकार के अंतर्गत आ जाती हैं । ध्वनि की स्थापना के उपरांत मान्य आचार्यों ने इस भ्रांति का निराकरण किया और अलंकारों को शैली के उपकरण मात्र माना । फिर भी कवि-शिक्षा के ग्रन्थों में इस परिपाटी का अनुसरण होता रहा—काव्य-मीमांसा के उपरांत अमर की काव्य-कल्पलतावृत्ति और तदुपरांत केशव मिश्र कृत अलंकार-शेखर में कवि-समय के रूप में काव्य के वर्ण्य विषय अर्थात् सामान्यालंकार का विवेचन चलता रहा । केशव ने सिद्धांत दण्डी और वामन आदि से और वर्णन प्रायः अमर और केशव मिश्र से ग्रहण किया । इस प्रकार से उपर्युक्त विभाजन न तो केशव की अपनी उद्भावना है और न वह तर्क-पुष्ट तथा मान्य है । वह काव्य-शास्त्र के विकास की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है, विकसित अवस्था का नहीं ।

विशिष्टालंकारों के विवेचन में केशव दंडी के पूर्णतया ऋणी हैं । उनके लक्षण और कहीं-कहीं उदाहरण भी काव्यादर्श से लिए गए हैं । केशव के अलंकार-वर्णन में दंडी के वर्णन से तीन-चार प्रकार की भिन्नता हैं : कुछ अलंकारों के लक्षण दंडी से भिन्न हैं, कुछ अलंकारों का विपर्यय हो गया है, दंडी के कुछ भेद केशव ने स्वीकार नहीं किये और कुछ अतिरिक्त भेदों की उद्भावना की है । परन्तु यह भिन्नता केशव के लिए शुभाशंसा की बात नहीं है—क्योंकि लक्षणों की भिन्नता तथा अलंकारों का विपर्यय प्रायः भ्रान्तिजन्य है; केशव दंडी का आशय ही नहीं समझे हैं । उदाहरण के लिए केशव ने अर्थान्तरन्यास के उपभेदों के नाम तो दंडी के अनुसार रखे हैं, परन्तु उनके लक्षण-उदाहरण भिन्न हैं—स्पष्टतया ही केशव यहाँ दंडी का आशय नहीं समझे । इसी प्रकार केशव की 'अपह्नुति' 'मुकरी' बन गई है । 'रूपक-रूपक' साधारण 'रूपक' मात्र रह गया है । कई स्थानों पर केशव ने प्रतीयमान अर्थ को वास्तविक अर्थ ही मान लिया है जिससे चमत्कार ही नष्ट हो गया है; जैसे 'आक्षेप' में उन्होंने वास्तविक निषेध को ही अलंकार का लक्षण मान लिया है । या सभी प्रकार के आशीर्वादों में ही अलंकारत्व मान लिया है । दंडी के कुछ भेद केशव ने छोड़ दिये हैं । आक्षेप के चौबीस भेदों में से उन्होंने बारह ग्रहण किये हैं, और उपमा के बत्तीस भेदों में से बाईस ग्रहण किये है, जिनमें अनेक के नामादि भी

भिन्न हैं। परन्तु यहाँ भी यह नहीं समझना चाहिए कि केशव ने अतिव्याप्ति-अव्याप्ति आदि को दूर करते हुए अलंकारों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए यह काट-छाँट की है। केशव ने यह ग्रहण और त्याग सर्वथा मनमाने ढंग से किया है; उसके पीछे न कोई तर्क है और न व्यवस्था। अतिरिक्त अलंकार-भेदों के लिए भी केशव को कोई विशेष श्रेय नहीं दिया जा सकता क्योंकि उनमें से कुछ तो चमत्कारहीन होने के कारण अलंकार ही नहीं बन सके : जैसे संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा में औपम्य का ही अभाव है अतएव उनको अलंकार ही नहीं माना जा सकता। गणना में तो किसी प्रकार का अलंकारत्व है ही नहीं—यदि उसे अलंकार माना भी जाये तो भी वह सामान्यालंकार ही रहेगा। और वास्तव में काव्य-कल्पलतावृत्ति और अलंकार-शेखर में उसका इसी रूप में वर्णन भी है।

दोष-विवेचन : केशव ने दोषों के दो वर्ग किए हैं। प्रमुख वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने पाँच दोषों की गणना की है :

अंध, बधिर अरु पंगु तजि, नगन, मृतक मतिशुद्ध।

अन्ध अर्थात् काव्य-परम्परा के विरुद्ध, बधिर जहाँ परस्पर-विरोधी शब्दों का प्रयोग हो, पंगु छंद-विरुद्ध, नग्न अर्थात् निरलंकार और मृतक जिसमें अर्थ का ही अभाव हो। केशव के इन दोषों का आधार क्या है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता—सम्भव है कि वे उनकी अपनी कल्पना ही हों अथवा किसी अप्रसिद्ध कवि-शिक्षा-ग्रंथ से उद्धृत हों, परन्तु इनकी स्थिति कोई विशेष प्रामाणिक नहीं है। उदाहरण के लिए नग्न-दोष, जहाँ किसी स्वीकृत अलंकार का अभाव हो, अपने आप में कोई दोष नहीं है क्योंकि गम्भीर आचार्यों ने 'अनलंकृति पुनः क्वापि' स्पष्ट ही कह दिया है। और, वास्तव में केशव ने जो छंद उद्धृत किया है वह दोषपूर्ण अथवा त्याज्य छंद न होकर सरस छंद है—उसमें उक्ति-चमत्कार का भी अभाव नहीं है चाहे वह चमत्कार परि-गणित अलंकारों के अंतर्गत भले ही न आता हो। इसी प्रकार 'मृतक' दोष भी असिद्ध-सा ही है क्योंकि काव्य-दोष केवल काव्य में हो सकता है, और अर्थहीन वाक्य तो भाषा भी नहीं कहा जा सकता, काव्य की बात तो दूर रही। आगे चल कर केशव ने अपार्थ दोष में इसी की पुनरावृत्ति की है यद्यपि उस प्रसंग में उदाहृत छंद सर्वथा निरर्थक नहीं। इन पाँच दोषों के अतिरिक्त केशव ने 'अन्य दोष' कह कर दस और काव्य-दोषों का वर्णन किया है। ये प्रायः प्रच-लित दोष ही हैं जो केशव ने दंडी से लिए हैं। यहाँ भी उन्होंने अनुवाद में असावधानी अथवा अर्थ-ग्रहण में त्रुटि की है—अपार्थ के लक्षण में दंडी का

कहना है : **उन्मत्त-मत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ।** 'अर्थात् उन्मत्त व्यक्तियों और मत्त बालकों की उक्तियों में निरर्थक शब्दावली का प्रयोग दोष नहीं रह जाता।' परन्तु केशव ने दंडी के इस सूक्ष्म विवेचन को ग्रहण न करते हुए अत्यंत स्थूल रूप में यह कह दिया है कि **'मतवारो उन्मत्त शिशु के से वचन बखानु'** अर्थात् जहाँ शिशु अथवा उन्मत्त व्यक्ति के से वचनों का प्रयोग हो वहाँ अपार्थ दोष होता है।

अन्य प्रसंग : इन प्रमुख प्रसंगों के अतिरिक्त केशव ने वृत्तियों का और थोड़ा-सा पिंगल का भी विवेचन किया है। कैशिकी, सात्वती आदि वृत्तियों का सम्बन्ध नाटक से ही है अतएव काव्य-शास्त्र में उनको कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया। केशव ने रसिकप्रिया में भरत के नाट्य-शास्त्र से पर्याप्त सहायता ली है, अतएव उसी सिलसिले में उन्होंने अन्त में वृत्तियों का विवेचन भी कर दिया है। पिंगल के अंतर्गत कविप्रिया का गणागण विचार आ सकता है यद्यपि वह 'अगण' दोष के ही प्रसंग में किया गया है, परन्तु विवेचन की दृष्टि से वह स्वतंत्र ही हो गया है।

काव्य-सिद्धान्त और काव्य-सम्प्रदाय : केशव को हिन्दी जगत अलंकार-वादी मान चुका है और साधारणतः उनका एक दोहा ही इस प्रसंग में उद्धृत कर इस स्थापना की सिद्धि कर दी जाती है। परन्तु केशव ने सामान्य काव्य-सिद्धान्त के विषय में रसिकप्रिया तथा कविप्रिया दोनों में कुछ निश्चित धारणाएँ व्यक्त की हैं। उनके मत से कवि तीन प्रकार के होते हैं :

उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन ॥

परमार्थ-परक काव्य के प्रणेता हरि-रस में लीन उत्तम कवि कहलाते हैं अर्थात् केशव के अनुसार परमार्थ अथवा धर्म और मोक्ष-रूप परम पुरुषार्थों की सिद्धि ही काव्य का चरम लक्ष्य है। मानव-जीवन के कवि जो मानव-चरित्र का गुणगान कर ऐहिक आनन्द को काव्य की सिद्धि मानते हैं—मध्यम कोटि के कवि हैं, और परमानन्द तथा लौकिक आनन्द अर्थात् आत्मा और मन दोनों के आनन्द से वंचित दोषपूर्ण कवि-कर्मचारी अधम कवि है। यहाँ केशव ने 'रस' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है।

कवि की सबसे बड़ी शक्ति है वाणी जिसके बिना वह आनन्द का दान नहीं कर सकता :

ज्यों बिन डीठ न शोभिये, लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल ॥

कवि की रसालता :—सरसता का मूल उपकरण है उसकी वाणी :

ताते रुचि शुचि सोचि पचि, कीजै सरस कवित्त ।
केशव श्याम सुजान को, सुनत होइ वश चित्त ॥

यहाँ भी सरस कवित्त अथवा कवित्त की सरसता पर ही बल दिया गया है और श्याम सुजान अर्थात् भगवान के प्रसादन को उसकी सिद्धि माना गया है। इस प्रकार केशव ने रस का तिरस्कार न कर उसके महत्व को पूर्णतया स्वीकार किया है। स्वयं अनेक दोषों के अपराधी होकर भी केशव ने दोष को कविता के लिए असह्य माना है :

राजत रंच न दोषयुत कविता बनिता मित्र ।

मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि ललित की आवाज़ आई—

बुंदक हाला परत ज्यों, गंगा-घट अपवित्र ।

इसलिए सबसे पूर्व उन्होंने दोषों का निरूपण कर कवियश:प्रार्थी को उनके विरुद्ध सावधान कर दिया है। प्रौढ़ावस्था तक पहुंच कर केशव पर अलंकार का जादू चढ़ गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह कवि, जैसा कि रामचन्द्रिका आदि के अनेक छन्दों से स्पष्ट है, अपने वंश की परम्परा और अपने पांडित्य के प्रति अत्यधिक सचेष्ट था। पांडित्य का धीरे-धीरे उस पर ऐसा आतंक छा गया कि अर्थ-गौरव के बोझ से मन की सरस्वती दब गई। पांडित्य और अर्थ-गौरव कृति-साध्य हैं और उधर अलंकार भी अपेक्षाकृत अधिक कृति-साध्य ही हैं इसलिए केशव को पांडित्य और अर्थ-गौरव की स्पृहा ने ही अलंकार की ओर आकृष्ट किया यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है। उनका सिद्धान्त-वाक्य :

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥

और रामचन्द्रिका में उनका भयंकर अलंकार-मोह उनकी अलंकारवादिता को असंदिग्ध रूप में प्रमाणित कर देता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि केशव ने आरम्भ में रसवाद के अन्तर्गत शृंगारवाद को मान्यता दी और रसिकप्रिया के द्वारा हिन्दी में उसका प्रवर्तन किया। यह उत्तर-ध्वनिकालीन परम्परा थी जब रसवाद अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के उपरांत नायिका-भेद के ग्रन्थों में शृंगारवाद में सीमित हो गया था। प्रौढ़िकाल में केशव की प्रवृत्ति स्वभावत: सरसता से बौद्धिकता की ओर होने लगी—बौद्धिकता के दो रूप सम्भव थे : १. विचार-प्रधान (दार्शनिक) काव्य। २. अलंकार-प्रधान काव्य। केशव ने दोनों को ही ग्रहण किया है और चूंकि

दरबार में रहकर उनका लगाव अलंकार से अधिक था, इसलिए अलंकार का जादू उनके सिर पर और ज़्यादा चढ़ कर बोलने लगा। अलंकार की परंपरा भामह, दंडी, वामन, उद्भट आदि की ध्वनि-पूर्व परम्परा थी जिसके अनुसार काव्य का समस्त सौन्दर्य ही अलंकार के आश्रित था जब वर्ण्य विषय और वर्णन-शैली दोनों ही अलंकार के अंतर्गत आते थे।

मूल्यांकन : रीति-शास्त्र में केशव का स्थान—इस पृष्ठभूमि का निर्माण कर लेने के उपरांत अब केशव के आचार्यत्व का मूल्यांकन सहज ही किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में तीन प्रकार के आचार्य हुए हैं: पहली श्रेणी में भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनव और कुन्तक आदि ऐसे आचार्यों का स्थान है जिन्होंने काव्य-शास्त्र के किसी मौलिक सिद्धान्त का आविष्कार कर काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव के लिए इस श्रेणी में तो कोई स्थान ही नहीं है। उन्होंने न किसी मौलिक सिद्धान्त की सृष्टि की और न किसी नवीन काव्य-पंथ का ही प्रवर्तन किया। यह सब केशव की सामर्थ्य से बाहर था। दूसरी श्रेणी में वे आचार्य आते हैं जिन्होंने काव्य के सर्वांग का मौलिक व्याख्यान किया है—इन आचार्यों ने काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों की सूक्ष्म-गहन व्याख्या करते हुए उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है: उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि व्याख्याता-आचार्य इस वर्ग के विभूषण हैं। केशव इस गौरव के भी अधिकारी नहीं हैं। इसके लिए काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों के तात्विक ज्ञान, उनके निर्भ्रान्ति एवं स्पष्ट विवेचन-व्याख्यान, तथा सुस्थिर व्यवस्थापन-शक्ति की अपेक्षा रहती है। जैसा कि हम अभी निर्देश कर चुके हैं, केशव में इन गुणों का प्रायः अभाव ही है। न उनका ज्ञान ही निर्भ्रान्ति है और न विवेचन ही स्थिर व स्पष्ट है। इस श्रेणी के आचार्यों का सबसे बड़ा गुण है व्यवस्था जिसका केशव में एकांत अभाव है। तीसरी श्रेणी कवि-शिक्षकों की है जिनका कार्य होता है विद्यार्थियों तथा रसिकों की काव्य-शिक्षा के निमित्त वर्णनात्मक ढंग से आवश्यक सामग्री का संचय कर एक सरल-सुबोध पुस्तक प्रस्तुत करना। सामान्यतः भारतीय काव्य-शास्त्र की व्यापक भूमिका में विचार करने से केशव कवि-शिक्षक रूप में ही सामने आते हैं जिन्होंने काव्य के दो प्रमुख अंगों का—रस तथा अलंकार का—साधारण प्रतिभा और ज्ञान वाले विद्यार्थियों और रसिकजनों के लिए विस्तार से वर्णन किया है:

समुझै बाला बालकन, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध॥

यहाँ केशव ने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है: एक तो वे काव्य-वर्णन

की सुबोध शिक्षा देना चाहते हैं, सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण की नहीं ; और दूसरे उनके ग्रन्थ साधारण शिक्षा-संस्कार वाले विद्यार्थियों और रसिकों के लिए हैं।

पर यदि हम अपनी दृष्टि को थोड़ा सीमित कर लें और हिन्दी काव्य-शास्त्र की परम्परा में ही केशव के आचार्यत्व का विचार करें तो केशव का महत्व असंदिग्ध है। उनको हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है—हिन्दी के उस व्यापक काव्य-युग के प्रवर्तन का श्रेय न केशव के किसी पूर्ववर्ती रीति-कवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है और व्यक्तित्व बहुत ही साधारण; चिन्तामणि को भी यह गौरव देना अन्याय है क्योंकि यह केवल एक संयोग था कि उनके उपरान्त रीति-काव्य की धारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो चली। हिन्दी के परवर्ती कवियों ने—देव, दास आदि सभी धुरन्धर कवियों ने—केशव को ही आचार्य-रूप में श्रद्धांजलि दी हैं। चिन्तामणि का नाम तक भी किसी ने नहीं लिया। केशव ने ही हिन्दी में सबसे पहले सचेष्ट रूप से संस्कृत की पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि परम्पराओं को अवतरित किया, और अपने पांडित्य-गुरु व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी-काव्य में शास्त्रीय पद्धति की प्रतिष्ठा की।

इसमें सन्देह नहीं कि उनका अलंकार-सिद्धान्त बाद में मान्य नहीं हुआ—उनकी भ्रान्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट और मुखर हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि उन्होंने हिन्दी के काव्य-साहित्य को आधार मानते हुए सिद्धांत-व्यवस्था न कर प्रायः संस्कृत का ही अनुवाद किया है। हमें यह भी स्वीकार्य है कि स्वयं हिन्दी के भी कतिपय परवर्ती आचार्यों—कुलपति, श्रीपति, दास आदि—का विवेचन केशव के विवेचन की अपेक्षा अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित है, फिर भी केशव की प्रतिभा उनमें से किसी में नहीं थी। भक्ति-काव्य की वेगवती धारा को रीति-पथ पर मोड़ने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी—और प्रतिभा और पांडित्य से परिपुष्ट यह व्यक्तित्व था केशव का।

व्याख्यान समाप्त करते-करते मस्तिष्क की अपेक्षा मेरा श्वास अधिक थक गया था। विद्यार्थियों की भी उँगलियाँ तो कम-से-कम थक ही गई थीं—कुछ की उँगलियाँ रँग भी गई थीं—एकाध की नाक पर भी टीका लग गया था। क्लास छोड़कर बाहर आया तो देखा कि मिस गर्ग और डाक्टर सिन्हा दोनों क्षुब्ध-सी खड़ी हुई हैं। मैंने सोचा कि महिलाएँ तो दोनों ही ये मृदुल स्वभाव की हैं—आज एक दूसरे से नाराज़ क्यों हो गई हैं! बाद में मालूम हुआ कि वे एक-दूसरे पर क्षुब्ध न होकर मुझ पर ही क्षुब्ध थीं क्योंकि दोनों का आधा समय तो मैंने ही ले लिया था।

: पाँच :

बिहारी की बहुज्ञता

बिहारी की बहुज्ञता का विवेचन करने से पूर्व इस प्रश्न का समाधान कर लेना आवश्यक हो जाता है कि बहुज्ञता और कवित्व का क्या सम्बन्ध है अर्थात् क्या किसी कवि के काव्य-सौष्ठव में उसकी बहुज्ञता का योग रहता है ? और यदि रहता है तो कितना ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र के भावक के लिए यह प्रसंग नया नहीं है, आरम्भ से ही उसमें काव्य के साधनों का विस्तार से विवेचन होता आया है, उन्हें काव्य के सहायक अथवा काव्य-हेतुक कहा गया है। ये काव्य-हेतुक तीन हैं: शक्ति, निपुणता और अभ्यास । संस्कृत काव्य-शास्त्र में इस बात पर काफ़ी बल दिया गया है कि कवि को व्युत्पन्न होना चाहिए । उसका लोक और शास्त्र का ज्ञान व्यापक होना चाहिए ।

भरत मुनि ने प्रकारान्तर से इसका निर्देश किया है—

न तत् ज्ञानं न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

अर्थात् नाटक में सभी प्रकार के ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, युक्ति, कर्म आदि का उपयोग रहता है । वामन ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है—लोक, विद्या और प्रकीर्ण ये तीन काव्य के सहायक अंग हैं । लोक का अर्थ है लोक-व्यवहार । शब्द-शास्त्र, कोश, छन्द-शास्त्र, कला, दण्डनीति, राजनीति अथवा अर्थ-शास्त्र आदि विद्याएँ हैं जिनका अध्ययन काव्य-रचना से पूर्व अपेक्षित होता है । राजशेखर ने इस सूची को और भी विस्तृत कर दिया है : "श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या अर्थात् दर्शन, समय-विद्या अथवा तन्त्र-शास्त्र, राज-सिद्धान्तत्रयी अर्थात् अर्थ-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र तथा काम-शास्त्र, लोक-व्यवहार, विरचना अर्थात् कवि-प्रतिभा-जात काव्यकथादि, प्रकीर्णक जिस के अन्तर्गत हस्ति-शिक्षा, रत्न-परीक्षा आदि की गणना की जाती है, उचित संयोग, योक्तृ-संयोग, उत्पाद्य-संयोग और संयोग-विकार आदि काव्यार्थ के मूल हैं । अन्त में मम्मट ने इस विवेचन को व्यवस्थित रूप देते हुए कहा—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

शक्ति; लोक, शास्त्र तथा काव्यादि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता; तथा अभ्यास ये तीनों समन्वित रूप से काव्य के हेतु हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में निपुणता अथवा बहुज्ञता की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। यहाँ तक कि प्रतिभा और निपुणता के बीच प्रतिद्वन्द्व रहा है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में आचार्य मंगल का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे उसे प्रतिभा से भी श्रेष्ठतर मानते थे। आनन्दवर्धन ने प्रतिभा की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए लिखा था—

अव्युत्पत्तिहृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।

अर्थात् कवि की प्रतिभा निपुणता के अभाव से उत्पन्न दोष का संवरण कर लेती है। इसका उत्तर मंगल ने उन्ही के शब्दों में दिया—

कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।

कवि की निपुणता उसकी शक्ति के अभाव-दोष का संवरण कर लेती है। यह तो अत्युक्ति ही है। वास्तव में आनन्दवर्धन का मत ही विवेक-सम्मत तथा तर्क-संगत है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि कवि की बहुज्ञता को हमारे काव्य-शास्त्र में बड़ा महत्व दिया गया है। विदेश में भी यूनान तथा रोम के आचार्यों ने और इधर अँग्रेज़ी आदि अर्वाचीन भाषाओं के साहित्य-शास्त्रियों ने भी कवि की व्युत्पन्नता पर बहुत बल दिया है। उसके लिए विभिन्न कलाओं, विद्याओं तथा उपविद्याओं का ज्ञान अनिवार्य माना गया है।

परन्तु हमें उपर्युक्त मन्तव्यों की सावधानी से परीक्षा करनी होगी। क्या कवि की बहुज्ञता काव्य की साधक ही होती है: क्या उसके कारण काव्य में बाधा नहीं पड़ती? संस्कृत में माघ, भारवि आदि का ज्ञान, विदेश में मिल्टन जैसे कवियों की विद्वत्ता और हिन्दी में केशव, तुलसी आदि की बहुज्ञता उनके काव्य में निःसन्देह ही बाधक हुई है। इसीलिये नासिख़ ने कवियों को चेतावनी दी है:

इश्क़ को दिल में दे जगह नासिख़,
इल्म से शायरी नहीं आती।

और वास्तव में यह काफ़ी हद तक ठीक है। बहुज्ञता काव्य का अनिवार्य गुण नहीं है, काव्य-सौन्दर्य के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। हस्ति-विद्या अथवा रत्न-परीक्षा का ज्ञान काव्य का संवर्धन कैसे कर सकता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। इस विषय में हमारे दो मन्तव्य हैं: एक तो यह कि बहुज्ञता का अर्थ काव्य से सम्बद्ध विषयों के ज्ञान और अनुभव की समृद्धि तक ही सीमित रखना चाहिए। और दूसरे उसका योग अप्रत्यक्ष ही मानना चाहिए अर्थात् वह कवि के व्यक्तित्व को विकसित और समृद्ध करके ही काव्य

में सहायक होती है। विभिन्न विद्याओं के ज्ञान का प्रत्यक्ष उपयोग तो काव्य की हानि ही करना है।

मम्मट ने यही बात कही है, इसीलिये जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने संकेत किया है, उन्होंने शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों के समन्वय को काव्य-हेतु माना है, निपुणता आदि को पृथक् रूप से नहीं। मम्मट का मन्तव्य भी यही है कि निपुणता शक्ति अर्थात् कवि के व्यक्तित्व का संवर्धन करती हुई ही काव्य में सहायक होती है। केवल निपुणता का सीधा उपयोग काव्य-सौष्ठव की श्रीवृद्धि नहीं करता।

बिहारी की बहुज्ञता का विवेचन हमें इसी पृष्ठभूमि में करना होगा। बिहारी की बहुज्ञता की चर्चा सबसे पहले कदाचित् पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी-सतसई की भूमिका में अत्यन्त प्रबल शब्दों में की है : "गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकंडे अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की पर-प्रतारणा, ज्योतिषी का ग्रह-योग, सूम की कंजूसी, जिसे देखिए वही कविता के रंग में रँगा चमक रहा है।" शुक्ल जी की मर्मज्ञता ने इस साधुवाद की बहुत दाद नहीं दी, और काव्य के आलोचक को इस विषय में अपनी अमोघ शैली से सावधान भी कर दिया है। उनका स्पष्ट कथन है कि कवि के लोक-अनुभव और शास्त्र-ज्ञान का व्यापक होना तो निस्सन्देह अपने आप में एक गुण है परन्तु बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिये उनका अनावश्यक प्रयोग निःसन्देह ही काव्य का दूषण है। इस प्रसंग में उन्होंने पंडित पद्मसिंह शर्मा पर व्यंग भी किया है कि केवल यह जानने से कि अंक पर शून्य लगाने से उसका मूल्य दस गुना हो जाता है कोई व्यक्ति गणित का विद्वान नहीं हो जाता। वास्तव में शुद्ध दृष्टिकोण यही है जो मर्मज्ञ और रसिक का अन्तर स्पष्ट कर देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी का व्यक्तित्व अत्यन्त व्युत्पन्न था। उनका लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान दोनों बढ़े-चढ़े थे। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है बिहारी में राग-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि-पक्ष अधिक प्रबल था। उनका दृष्टिकोण वस्तु-परक था। अतएव उनमें तटस्थ होकर सूक्ष्म अन्वीक्षण करने की शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। उन्होंने जीवन को कदाचित् भोगा कम, देखा अधिक था। इसीलिये उनके काव्य में अनुभूति की गहराई कम और विषय की व्यापकता अधिक है। बिहारी ने काव्य के अतिरिक्त दर्शन, पुराण, नीति, ज्योतिष, वैद्यक, आदि के क्षेत्र में प्रवेश किया है। उधर राजाश्रित कवि होने के कारण राजसी वैभव की सामग्री से भी उनका परिचय था। स्थापत्य तथा चित्र-

कला से भी निस्सन्देह उनका सम्पर्क था। शिकार का भी अनुभव था। और इसके अतिरिक्त लोक-व्यवहार से भी यह व्यक्ति घनिष्ठ रूप से अवगत था।

सबसे पहिले दर्शन को ही लीजिए। दर्शन से संबद्ध बिहारी के कुछ दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :

मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचो काँच सो,
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ।

जहाँ तक इस दोहे के आधारभूत सिद्धान्त का अर्थ है वह तो अत्यन्त प्रचलित है और वह बिहारी को दर्शन-शास्त्र का विद्वान सिद्ध करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त है। परन्तु कच्चे काँच का उपमान वास्तव में अत्यन्त सटीक है और कदाचित् मौलिक भी; क्योंकि वेदान्त मे जल-तरंग, घट-मृत्तिका आदि अन्य रूपकों का प्रयोग तो प्रायः हुआ है परन्तु प्रतिबिम्बवाद के स्पष्टीकरण के लिए कदाचित् कच्चे काँच का प्रयोग देखने में नही आया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी सिद्धान्त के विषय मे तो अनेक उद्धरण दिये हैं परन्तु इस उपमान का समानान्तर प्रयोग किसी में भी नहीं है। कदाचित् यह सूफ़ी-भावना है। फ़ारसी में इस प्रकार के उपमान प्रायः मिलते हैं। जायसी ने सरवर को बिम्ब-ग्राहक मानकर इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है। इसी प्रकार दर्शन-विषयक अन्य दोहे भी किसी गहन दार्शनिक अध्ययन के द्योतक नही हैं। उनके अन्तर्भूत अन्य सिद्धान्त अत्यन्त प्रचलित और साधारण हैं। उदाहरण के लिए :

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग,
नाक बास बेसर लह्यौ बसि मुकतन के संग।

यहाँ साधु-संगति का माहात्म्य बताया गया है जो मध्य-युग का अत्यन्त प्रचलित सिद्धान्त था। अन्य दोहों में भी सगुण, निर्गुण, अद्वैतवाद तथा ब्रह्मवाद आदि से सम्बद्ध अत्यन्त साधारण सिद्धान्तों की चर्चा है जिनसे इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि बिहारी ने दर्शन-शास्त्र का शास्त्रीय विधि से अध्ययन किया था।

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुण-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही चंग-रंग गोपाल॥
बुधि अनुमान प्रमाण श्रुति कियें नीठि ठहराय।
सूक्षम कटि परब्रह्म की अलख लखी नहिं जाय॥

दर्शन के अतिरिक्त पुराण आदि के भी सतसई में कतिपय प्रसंग आये हैं। बिहारी जैसे व्युत्पन्न कवि के लिए पुराण-ज्ञान सर्वथा स्वाभाविक ही था। वास्तव में मध्य-युग में वेद-शास्त्र की अपेक्षा पुराणों का ही प्रचार अधिक था।

विरह-विथा-जल-परस बिन बसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जल-थम्भ विधि दुरजोधन लौं लाल॥

इस दोहे में दुर्योधन की जल-स्तम्भ विद्या का उल्लेख है। इसी प्रकार दुर्योधन के अन्तिम समय की स्थिति का भी एक अन्य दोहे में प्रसंग आया है :

पिय-बिछुरन को दुसह दुख हरषि जात प्यौसाल।
दुरयोधन लौं देखियत तजत प्रान इहि बाल॥

इसके अतिरिक्त रामायण-महाभारत के कुछ और भी प्रसंग है। परन्तु वास्तव मे वे अत्यन्त प्रचलित और सर्वविदित है, उनके लिए विशेष अध्ययन की कोई अपेक्षा नही है।

बिहारी का एक अन्य प्रिय विषय है ज्योतिष और वास्तव में उसका उन्होंने विशेष अध्ययन किया प्रतीत होता है। सतसई के बहुत-से दोहों में ज्योतिष का चमत्कार है। कुछ के प्रसंग तो वास्तव मे बिहारी के तद्विषयक विशेष ज्ञान के द्योतक है—

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि, केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

ज्योतिष का सूत्र है कि जब मंगल, बृहस्पति और चन्द्रमा एक नाड़ी में हों तो पृथ्वी पर समुद्र टूट पड़े।

एकनाड़ी-समायुक्तौ चन्द्रमो धरणी सुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदा एकार्णवा मही॥

इसी प्रकार—

सनि कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देहु॥

तुला-कोदण्ड-मीनस्थो, लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति नृपतेर्जन्म वंशे च नृपतेर्भवेत॥

अर्थात्—

तुला, धन और मीन का शनि यदि लग्न में पड़ा हो तो इस योग में जन्म लेने वाला राजा होता है। बिहारी के दोहे में इसी ज्योतिष-सिद्धान्त का चमत्कार है। इसमें सन्देह नही कि ये दोनों प्रसंग असामान्य हैं और विशेष ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। बिहारी ने ज्योतिष के सिद्धान्तों का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक ही किया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह प्रयोग काव्य में कहाँ तक सहायक है। इसमें संदेह नहीं कि इसके द्वारा उक्ति-चमत्कार में वृद्धि होती है। कल्पना का भी उत्कर्ष लक्षित होता है। कवि की विद्वत्ता का भी परिचय मिलता

है। परन्तु रसानुभूति में तो विलम्ब के कारण विघ्न ही उपस्थित होता है।

बिहारी के अन्य प्रिय विषय है: वैद्यक, कला, राजसी कौतुक-विनोद आदि। इसमें से ज्योतिष और वैद्यक का ज्ञान ब्राह्मण होने के नाते, कला का ज्ञान कवि होने के नाते, और कौतुक-विनोद आदि से अभिज्ञता राज-पारिषद होने के नाते बिहारी के लिए स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी थी। उन्होंने कुछ-एक दोहों में नाड़ी-निदान, विषम ज्वर, सुदर्शन, पारद आदि का श्लिष्ट प्रयोग किया है — अनेक दोहों में कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी, नटों के खेल, शिकार आदि राजसी क्रीड़ा-विनोदों का उल्लेख किया है और दो-चार दोहों में स्थापत्य तथा चित्र-कला आदि के भी प्रसंग मिलते हैं। परन्तु जैसा मैंने अभी कहा ये सब कवि की बहु-ज्ञता अथवा व्यापक पांडित्य के परिचायक न होकर उसकी व्यापक दृष्टि के ही साक्षी हैं।

इस प्रसंग में इन सब से अधिक महत्वपूर्ण मै उन दोहों को मानता हूँ जिन में सामयिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। बिहारी की तीक्ष्ण दृष्टि ने अपने युग के समाज और उसकी दुर्बलताओं का सम्यक् रूप से अवलोकन किया है। पुरोहितों का पाखण्ड, ज्योतिषियों की उखाड़-पछाड़, वैद्यों की पोल-पट्टी सामाजिक मर्यादाओं का शैथिल्य, बढ़ती हुई विलासिता आदि पर बिहारी ने तीखे व्यंग किये हैं। धर्म के क्षेत्र में किस प्रकार मत-मतान्तरों का विवाद शेष रह गया था; साम्प्रदायिक रूढ़िवाद का बोलबाला था; जीवन का उन्नयन करने वाला धर्म उपेक्षित हो रहा था — बिहारी के सामने यह सब-कुछ स्पष्ट था, और उन्होंने अपने दोहों के अत्यन्त संकुचित कलेवर में भी इन परिस्थितियों का निर्देश किया है। राजनीतिक परिस्थिति पर भी बिहारी की दृष्टि गई है और उन्होंने द्विराज (डायारकी), हिन्दू राजाओं की हिन्दू-विरोधी नीति, नरेशों की निरंकुशता आदि पर मार्मिक व्यंग किये हैं। रीति-काव्य पर असामाजिकता का आरोप प्रायः अब रूढ़-सा ही हो गया है। वह सर्वथा अनुचित भी नहीं है। फिर भी रीति-कवियों ने अपने ढंग से सामाजिक आलोचना प्रस्तुत की है: और, बिहारी-सतसई तथा अनेक काव्य इसके प्रमाण हैं।

अब तक हमने जिन विषयों की चर्चा की वे सब काव्य के सहायक मात्र है। इनके अतिरिक्त काव्य, काव्य-शास्त्र, काम-शास्त्र आदि का तो बिहारी के काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही था। बिहारी की इस दिशा में अच्छी गति थी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तथा पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया था; काव्य-शास्त्र तथा उसके विभिन्न अंगों...रस-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, नायिका-भेद आदि का उनको निर्भ्रान्त ज्ञान था। इन शास्त्रों की बारीकियाँ उन

के दोहों में सर्वत्र मिलती हैं। रस के क्षेत्र में उसके विभिन्न अवयव; शृंगार के अन्तर्गत अनुभाव, सात्विक भाव, यत्नज और अयत्नज अलंकार; काम दशा आदि का जितना सूक्ष्म और स्पष्ट वर्णन बिहारी-सतसई में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार अलंकार-शास्त्र तथा नायिका-भेद और उसके आधार-भूत काम-शास्त्र से भी सतसईकार का घनिष्ठ परिचय था। बिहारी-सतसई यद्यपि लक्ष्य-ग्रन्थ ही है तथापि अलंकार और नायिका-भेद के जितने स्पष्ट उदाहरण उसमें मिलते है उतने तथाकथित लक्षण-ग्रंथों में नही मिलते।

इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से बिहारी के काव्य-व्यक्तित्व के तीनों ही अंग— शक्ति, निपुणता, और अभ्यास— सम्यक् परिपुष्ट है। नवोन्मेष यदि प्रतिभा का गुण है तो बिहारी के पास उसका प्राचुर्य था। अभ्यास भी, जीवन में केवल ७०० के लगभग दोहे जड़नेवाले बिहारी से अधिक किसने किया होगा? परन्तु इन दोनों की अपेक्षा तीसरा अंग व्युत्पन्नता और भी अधिक परिपुष्ट है। लोक और शास्त्र का अपनी सीमित परिधि के भीतर जितना सूक्ष्म अध्ययन बिहारी ने किया था उतना अनेक कवि नही कर सके। व्युत्पन्नता का अर्थ वास्तव में केवल पांडित्य अथवा बहुज्ञता या जानकारी तक ही सीमित न करके साहित्यिक परिष्कृति : लिटरेरी कल्चर : मानना चाहिये क्योंकि इसी रूप में उसकी सार्थकता है। अन्यथा ठगों के हथकण्डे या नटों की कलाबाज़ी का ज्ञान अर्थ की साधना में सहायक भले ही हो सके, काव्य की साधना में वह कोई विशेष प्रत्यक्ष योग नही दे सकेगा।

: छः :

तुलसी और नारी

तुलसी के यह सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही रहे हैं कि भारतीय परम्परा ने उन्हें लोकनायक महात्मा पहले और कवि बाद में माना है। इस दृष्टि से उनके ग्रथ हमारे लिए आचार-शास्त्र का काम भी करते रहे हैं। तुलसी के प्रकांड आलोचक शुक्ल जी ने भी उनके इस रूप पर ही अधिक बल दिया है। परिणामतः आज तुलसी के साहित्यिक महत्व के मूल्यांकन में भी अनेक नैतिक-सामाजिक प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है। जब तुलसीदास के समर्थकों और भक्तों ने उनके काव्य पर सामाजिक आचार-शास्त्र का आरोप किया तो स्वभावतः ही आधुनिक नारी की उद्बुद्ध चेतना ने सहृदयता के न्यायालय में अपने प्रति न्याय की माँग की।

तुलसीदास के रामचरित-मानस तथा अन्य ग्रंथों में, विभिन्न प्रसंगों में, ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जो किसी भी देश-काल की नारी के प्रति, किसी रूप में भी न्याय नहीं करती। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चारित्र्य, बुद्धि-विवेक, आचार-व्यवहार सभी की निन्दा की है। पहले प्रकृति को लीजिए :

स्वयं भगवान शंकर के श्रीमुख से जगदम्बा सती के ब्याज से नारी की प्रकृति का वर्णन सुनिए :

सुनहु सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिय उर काऊ॥

इसके आगे कवि की टिप्पणी है :

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ।
देखहु नारि सुभाव-प्रभाऊ॥

भरत रामचरित-मानस के सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। वे तुलसी के मत से मानव-रूप के आदर्श हैं। नारी की प्रकृति के विषय में उनकी धारणा सर्वथा प्रतिकूल है :

बिधिहु न नारि हृदय-गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

उधर रावण, भरत के सर्वथा विपरीत, तुलसीदास की धारणा के अनुसार

अमानव-रूप का प्रतीक है। परन्तु नारी की प्रकृति के विषय में तुलसी के आदर्श मानव और अमानव दोनों का एक ही मत है। रावण के शब्दों में :

नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक असौच अदाया ॥

इस प्रकार तुलसीदास के दो सर्वथा प्रतीप पात्र नारी के विषय में एकमत हैं। और यह धारणा केवल पुरुषों की ही नही हैं, नारी स्वयं भी अपने विषय में यही सोचती है।

राम से शबरी कहती है :

अधम तें अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मै मति मन्द गँवारी ॥

उधर भगवती अनुसूयाँ भी नारी को सहज अपावन ही मानती हैं : **"सहज अपावन नारि।"**

ये तो हुए व्यक्तियों के विचार। समष्टि का निर्णय भी नारी की प्रकृति को दुष्ट ही ठहराता है। अयोध्या का जनमत है :

सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ।
सब विधि अगहु अगाध दुराऊ ॥

और अन्त में निष्कर्ष रूप में स्वयं तुलसीदास को घोषणा है कि नारी स्वतंत्र होकर मार्ग-भ्रष्ट हो जाती है : **जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।**

प्रकृति के अतिरिक्त नारी की बुद्धि और विवेक के विषय में भी तुलसीदास का मत भिन्न नहीं है। सती के शब्दों में स्वयं नारी अपनी बुद्धि के विषय में कहती है :

सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सर्वज्ञ।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ ॥

अपनी सहज अज्ञता के कारण वह तत्व-दर्शन आदि की अधिकारिणी नहीं है **"जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।"** इसी प्रकार उसके आचार-व्यवहार को भी तुलसीदास ने मलिन ही माना है :

कहं हम लोक-वेद-विधि-हीनी।
लघु तिय कुल करतूति मलीनी ॥

उनकी दृष्टि में नारी का सामाजिक गौरव कितना है इसका संकेत भी आपको मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम के शब्दों में मिल जायेगा। लक्ष्मण-शक्ति

के अवसर पर शोक-विह्वल राम इस दुर्घटना का समस्त दोष नारी के ही मत्थे मढ़ देते हैं :

जैहउँ अवध कवन मुँह लाई,
नारि-हेतु प्रिय भाइ गँवाई।
बर अपजस सहतेउँ जगमाहीं,
नारि-हानि विशेष छति नाहीं।

यहाँ राम शोक में व्याकुल होकर न केवल क्षत्रिय की वरन् साधारण पुरुष की आत्म-मर्यादा का भी त्याग कर देते हैं। स्त्री का हरण पुरुष के पौरुष के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है मानों नारी के प्रति पतनकालीन हिन्दू-समाज की हीन भावना राम पर भी हावी हो जाती है।

तुलसीदास का सबसे भयंकर प्रहार नारी के कामिनी रूप पर हुआ है। उन्होंने रामादि आदर्श पात्रों द्वारा परोक्ष रूप से और उधर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अनेक स्थानों पर नारी के इस भयंकर खतरे की चेतावनी दी है। पंपासर के किनारे नारद-मुनि को सावधान करते हुए भगवान राम कहते हैं :

सुनि मुनि कह पुरान स्रुति सन्ता।
मोह विपिन कहँ नारि बसन्ता॥
जप तप नेम जलाश्रय झारी।
होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी॥
पाप उलूक-निकर सुखकारी।
नारि निबिड रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

नारी मोह-रूपी विपिन के लिए वसन्त के समान है, जप-तप नियमादि जलाशयों को वह ग्रीष्म ऋतु के समान सुखा देती है। पाप-रूपी उलूकों के लिए वह निबिड़ रात्रि के सदृश सुखदायी है, और बुद्धि, बल, शील तथा सत्य-रूपी मीनों के लिए वंशी के समान है।

उसमें संयम का इतना घोर अभाव है कि भ्राता, पिता और पुत्र किसी भी सुन्दर पुरुष को देखकर वह रसार्द्र हो जाती है :

भ्राता, पिता, पुत्र, उरगारी,
पुरुष मनोहर, निरखत नारी,
होइ बिकल सक मनहि न रोकी,
जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी

इसीलिए तुलसीदास अपने मन को बार-बार सचेत करते हैं :

दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होइ पतंग ।
भजहु राम, तजि काम मद, करहु सदा सतसंग ।।

क्योंकि पुरुष के लिए स्त्री घोर शत्रु से भी अधिक दारुण है—उसकी भयंकरता मृत्यु से कुछ ही कम समझिए : इसका प्रमाण है जन्म-कुण्डली जिसमें नारी का स्थान दारुण वैरी और मृत्यु के बीच में पड़ता है :

जनम-पत्रिका बरति कै देखहु मनहिं बिचारि ।
दारुन बैरी मीचु कै, बीच बिराजति नारि ।।

तुलसी बाबा अपनी सफ़ाई में क्या कहते, यह कहना तो आज सम्भव नहीं, परन्तु उनके भक्तों और प्रशंसकों ने उनकी ओर से अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है :

१. तुलसी का काव्य व्यक्ति-परक काव्य न होकर वस्तु-परक काव्य है। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति न करके कथा का वर्णन किया है जिसमें प्रसंग और पात्र के अनुसार अनेक प्रकार के भाव और विचार व्यक्त किये गये हैं। अतएव सभी उक्तियों का तुलसीदास पर ही आरोप कर देना न्याय नहीं है। रामचरित-मानस में भिन्न प्रकृति के भिन्न-भिन्न पात्र हैं जो अपनी परिस्थिति और मनोदशा के अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं : उदाहरण के लिए भरत अथवा राम की वाणी शोक और आत्म-ग्लानि की कातर वाणी है, और शबरी तथा ग्राम-नारियों के शब्द उनकी अतिशय कृतज्ञता और विनम्रता को ही व्यक्त करते हैं। उधर **'भ्राता पिता पुत्र उरगारी'** आदि का सम्बन्ध शूर्पणखा से है और सती की आत्म-ग्लानि —**'नारि सहज जड़ अज्ञ'**—का सम्बन्ध भी, उनके अपने अज्ञान-जन्य अपराध से ही है। इसी प्रकार रावण स्वयं दुष्ट पात्र है, अतएव उसके शब्द तुलसीदास के शब्द कैसे हो सकते हैं ? — तुलसीदास के अधिवक्ता कथाकार कवि के अवैयक्तिक रूप (Impersonality of the poet) का तर्क उपस्थित करते हैं।

परन्तु यह तर्क अधिक संगत नहीं है। पहले तो तुलसी जैसे भक्त कवि की कविता को एकान्त वस्तु-परक मानना ही असंगत है। स्वयं उन्होंने ही अपनी काव्य-रचना को स्वान्तःसुखाय कहा है, और यह अर्थवाद नहीं क्योंकि वास्तव में भक्त कवि की चेतना मूलतः वस्तु-परक हो ही कैसे सकती है ? वस्तु-परक दृष्टि की पहली शर्त है वस्तु अर्थात् पार्थिव जगत की सत्ता में अचल विश्वास और भक्त के लिए भाव-जगत ही सब कुछ है। इस प्रसंग में जो लोग शेक्सपियर का उदाहरण देकर तुलसी का पक्ष-समर्थन करते हैं वे लाल और सफ़ेद रंगों में भेद

करना नही जानते – इसके अतिरिक्त तुलसी की पूर्वोक्त पंक्तियों की परीक्षा करने पर भी इस युक्ति का महज ही प्रतिवाद हो जाता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ ही लीजिए :

भ्राता, पिता, पुत्र, उरगारी,
पुरुष मनोहर निरखत नारी,
होइ बिकल मन सकहि न रोकी,
जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी।

जहाँ तक कटुता का सम्बन्ध है, मेरी धारणा है कि नारी के प्रति इससे अधिक अन्याय नहीं किया जा सकता। कहाँ नारी का पवित्रतम वात्सल्य भाव, कहाँ "द्रव" शब्द की वीभत्सता ! कहा जा सकता है कि यह निन्दा दुष्टा शूर्पणखा की है, साधारण नारी की नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है। ये पंक्तियाँ शूर्पणखा के प्रसंग में अवश्य कही गई हैं, किन्तु उसके लिए नहीं कही गई। यह नारी-व्यक्ति की भर्त्सना नहीं, नारी-जाति की भर्त्सना है। और ये एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र को उद्दिष्ट कर नहीं कही गई, ये तो काकभुशुण्डि द्वारा गरुड़ से कही गई हैं—दूसरे शब्दों में स्वयं कवि की ही सामान्य टिप्पणी हैं। इसी प्रकार अनेक उक्तियों में तो पात्र बीच में आते ही नहीं—वे प्रत्यक्ष कवि-वचन हैं; यथा—

जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी।

दूसरा तर्क तुलसीदास के पक्ष में यह दिया जाता है कि उन्होंने सभी स्त्रियों की निन्दा नहीं की; जिनको निन्द्य समझा है उन्हीं की निन्दा की है।

सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनुसूया यहाँ तक कि मन्दोदरी के प्रति भी उन्होंने असीम श्रद्धा व्यक्त की है और उनके उज्ज्वल चित्र अंकित किये हैं। परन्तु इसके उत्तर में तीन प्रतियुक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं : एक तो यह कि सीता, कौशल्यादि की महिमा का वर्णन तुलसी ने केवल राम के नाते से ही किया है—

नाते सबहि राम सों मनियत श्रव्य सुसेव्य जहाँ लों।

इन पात्रों की महिमा मूलतः राम की ही महिमा है। मंदोदरी की महिमा इसलिए है कि वह राम के लिए अपने पति से भी लड़ बैठती है। यदि राम बीच में न होते तो जाने तुलसीदास उसके विषय में क्या कहते ? दूसरी बात यह है कि इन पात्रों के व्यक्तित्व भी अपने आप में कोई विशेष प्रबल नहीं हैं। राम को हटा कर यदि आप सीता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विश्लेषण करें तो उसमें वांछित शक्ति और दृढ़ता का अभाव पायेंगे। परम पुरुष की आदि शक्ति

सीता के व्यक्तित्व में जो शक्ति और प्रखरता होनी चाहिए वह तुलसी की सीता में नहीं है। वे राम की छाया मात्र हैं। तुलसी ने वास्तव में मध्यकालीन हिन्दू परम्परा के अनुसार सीता का गुड़ियानुमा वधू-चित्र ही अंकित किया है।

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥

× × × ×

सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डराती॥

× × × ×

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू॥

केवल रावण के सामने ही दो-एक अवसर पर उनकी परम शक्ति उद्बुद्ध होती है। पर वहाँ भी उनको अपने बल की अपेक्षा राम के बल का ही अधिक भरोसा है:

खल सुधि नहिं रघुबीर बान की।

तीसरी प्रतियुक्ति यह दी जा सकती है कि मान लीजिए तुलसी ने सीता, कौशल्यादि का महिमा-गान किया भी है फिर भी तो यह व्यक्तियों का ही महिमा-गान हुआ, नारी जाति की तो उन्होंने सदा निन्दा ही की है। व्यक्ति को अच्छा बुरा कहना तो प्रसंग, पात्र, मनोदशा आदि पर निर्भर हो सकता है, परन्तु समष्टि को बुरा कहना तो कवि की सामान्य धारणा को ही व्यक्त करता है।

तुलसीदास के समर्थक एक तर्क यह देते हैं कि कवि पर देश-काल का प्रभाव था। उस युग में स्त्रियों की दशा अत्यन्त हीन थी, वे वास्तव में ही अज्ञ, मतिमन्द तथा लोक-वेद-विधि-हीन थीं। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन दृष्टिकोण भी नारी को केवल जीवन का उपकरण अथवा दासी ही मानता था, अतएव तुलसीदास ने अपने युग की स्थिति तथा विचारधारा के अनुरूप ही नारी का चित्रण किया है। यह तर्क साधारण कवि के लिए तो ठीक हो सकता है, तुलसी जैसे क्रांत-द्रष्टा कवि के लिए नहीं। और फिर, सूर ने ऐसा क्यों नहीं किया?

तुलसी के पक्ष में चौथा तर्क और भी प्रबल है। तुलसीदास संत थे, और उन्होंने अपने ग्रंथों में जहाँ अनेक बातें साधारण गृहस्थों के लिए कही हैं, वहाँ कुछ बातें संतों के लिए भी कही हैं। नारी-निंदा उन्होंने अपने और अपने समान-धर्मा संतों के मन को सचेत करने के लिए की है। शुक्ल जी कहते हैं कि यदि पुरुष-कवि तुलसीदास ने नारी को पुरुष-पतंगों के लिए दीपशिखा कहा, तो स्त्री-कवि पुरुष को नारी-पतंगियों के लिए भाड़ कह सकती है। इसमें संदेह नहीं

कि तुलसी के दृष्टिकोण के पीछे इस प्रकार का मनोविज्ञान रहा होगा—संत होने के कारण उनका कंचन और कामिनी के प्रति सतर्क रहना स्वाभाविक ही था, और तत्कालीन संत-समाज को भी सम्भवतः सचेत करने की आवश्यकता रही हो। परन्तु फिर भी इसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। संत का दृष्टिकोण "सीयराममय" भी तो हो सकता था और स्वयं तुलसी ने अपने महाकाव्य का आरंभ इसी परप्रत्यक्ष-गम्य नमस्क्रिया से किया भी है। परन्तु इसका निर्वाह नहीं हो सका क्योंकि एक तो उनके अपने संस्कार इसमें बाधक हुए हैं, दूसरे भारतीय संत-परम्परा की दृष्टि भी तो नारी के प्रति अत्यन्त संदेहशील और कठोर रही है। वास्तव में तुलसी की कई कटूक्तियाँ उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति-वचनों का सीधा अनुवाद हैं। उदाहरण के लिए उनकी यह चिरनिन्दित अर्धाली :

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

गर्ग-संहिता के इस श्लोक का अक्षरशः अनुवाद है—

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा, दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः
ताड़िता मार्दवं यान्ति नैते सत्कारभाजिनः ।

इसी प्रकार रावण की कटूक्ति भी अनुवाद ही है—

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं,
अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।
साहस अनृत चपलता माया,
भय अविवेक असौच अदाया ॥

इसका मूल श्लोक इस प्रकार है—

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता,
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥

उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था : संस्कृत के मध्यकालीन नीति-ग्रंथ, स्मृतियाँ, पुराण, संतवाणी—यहाँ तक कि संस्कृत और हिन्दी के घोरतम शृंगारी कवियों ने भी इस परम्परा का विचार अथवा अविचारपूर्वक पालन किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से वास्तव में इसे नारी की भर्त्सना न मानकर इनके अपने अतिशय अनुरक्त मन की ही आत्म-भर्त्सना समझना चाहिए।

मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण-शास्त्र इस मनोवृत्ति के कुछ और भी कारण उपस्थित कर सकता है। इस कटुता का एक अत्यन्त स्पष्ट कारण तो तुलसी के जीवन की उस घटना में ही ढूंढ़ा जा सकता है जिसने उन्हें राम-भक्ति की ओर प्रेरित किया था। यह घटना तुलसीदास के व्यक्तित्व-निर्माण का मूल आधार है। इसी के द्वारा उनका उत्कट पार्थिव प्रेम उतने ही उत्कट अपार्थिव प्रेम में

उन्नमित हो गया था। अपने भाव का उन्नयन तो तुलसी ने साधना से कर लिया, परन्तु चूँकि यह परिवर्तन सहज एवं क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा न होकर एक झटके के साथ हुआ था इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथि उनके मन में रह गई और उनकी आत्म-ग्लानि जीवन भर न तो अपने आतुर मन को क्षमा कर सकी और न उस आतुर मन की आलम्बन अथवा बाह्य प्रतीक नारी को ही। सामान्यतः तो जीवन के उस अभुक्त रस को उन्होंने अपने लिए और दूसरों के लिए भी अमृत बना लिया, परंतु परिवर्तन की अचानकता (adruptness) के कारण कदाचित् कुछ कण ऐसे रह गये जो विष बन गये। उनकी उक्तियों के विश्लेपण से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वे नारी को कभी क्षमा नहीं कर सके—परतु यहाँ नारी को एक सामाजिक इकाई न मानकर तुलसी के उस अधीर मन का ही प्रतीक मानना चाहिए जो उनकी घोर ग्लानि और लज्जा का कारण बना था।

एक दूसरा कारण और भी है। तुलसी की भक्ति पुरुष-भाव से पुरुष की अर्थात् पुरुष-रूप भगवान की उपासना है। दास्य भाव भी पुरुष-भाव ही है। मध्य-युग में उपासना के तीन मार्ग थे : नारी-भाव से पुरुष-रूप भगवान की उपासना, पुरुष-भाव से नारी अर्थात् शक्ति-रूप भगवान की उपासना और पुरुष भाव से पुरुष-रूप भगवान की उपासना जिसके अन्तर्गत सख्य और दास्य दोनों भाव आ जाते हैं। पहली दो पद्धतियों में तो नारी-भाव की अनिवार्यता ही है, इस तीसरी उपासना-पद्धति में नारी नहीं आती और आती है तो बाधा-रूप में आती है या अवचेतन में अनावश्यक प्रतिद्वन्द्व की भावना उत्पन्न करती है।

ये सब तर्क और यह कार्य-कारण-शृंखला केवल व्याख्या मात्र हैं। ये तुलसी के नारी-विषयक दृष्टिकोण के लिए क्षमा-याचना या अधिक से अधिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं। वास्तव में आज की नारी यदि समस्त जगत को "सीयराममय" समझने वाले समद्रष्टा कवि से अधिक न्याय की माँग करे तो आप उसके क्षोभ को सहज ही समझ सकते हैं।

: सात :

ब्रज-भाषा का गद्य (टीका साहित्य)

इस प्रसंग में मुझे यूरोप के किसी नाटककार का एक मजाक याद आता है जिसमें एक पात्र बड़े ही गम्भीर जिज्ञासु भाव से दूसरे से पूछता है—'मसियो, गद्य क्या होता है ?' और जब दूसरा पात्र उसे बताता है कि जिस भाषा में वह बोल रहा है वही गद्य है तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है ! ब्रज-भाषा के साहित्यकार की अवस्था भी बहुत-कुछ ऐसी ही थी। यों तो ब्रज-भाषा गद्य की परम्परा तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक निरन्तर चलती रही परन्तु उसके काव्य-वैभव ने गद्य-साहित्य को इस बुरी तरह आच्छादित कर लिया था कि आज उसके अस्तित्व का विश्वास करना भी कठिन हो जाता है।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उपलब्ध ब्रज-भाषा गद्य-साहित्य के स्थूल रूप से तीन वर्ग बनाए जा सकते हैं। पहले वर्ग के अन्तर्गत ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनका विषय धार्मिक शास्त्र-चर्चा है। ये रचनाएँ सामान्यत: तीन प्रकार की हैं—(क) हठयोग आदि के ग्रन्थ (ख) वैष्णव धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थ (ग) साधारण ब्रह्म-ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थ। गोरख-नाथ के अनेक ग्रन्थ जैसे गोरखनाथ-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरख-संवाद आदि हठयोग के ग्रन्थ हैं। विट्ठलनाथ का प्रसिद्ध ग्रन्थ शृंगार-रस-मंडन, विष्णुपुरी की भक्ति-रत्नावली आदि वैष्णव धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थ हैं, और ज्ञान-मंजरी आदि का सम्बन्ध ब्रह्म-ज्ञान से है। ये तीनों प्रकार के गद्य-ग्रन्थ प्राय: ऐसे संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद या छायानुवाद हैं जिनमें सिद्धान्त-निरूपण किया गया है। स्वभावत: इनमें शास्त्रीय प्रतिपादन की सूत्र-वृत्ति शैली का अवलम्बन किया गया है। वाक्य छोटे और अपूर्ण हैं। वाक्य-रचना में विस्तार और व्यवस्था का अभाव है। यह शैली शास्त्रार्थ की शैली है। शब्दावली की दृष्टि से इन संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है—गोरख-पंथियों की भाषा अपेक्षाकृ सरल है क्योंकि उनका जनता से सम्पर्क अधिक था; फिर भी संस्कृत के मू ग्रन्थों की विचारधारा के साथ-साथ संस्कृत की शब्दावली भी चली आई है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वर्णनात्मक गद्य-ग्रन्थ॰ आते हैं जिनमें वार्ताएँ, उपाख्यान, पुराण, नीति-कथा, अष्टयाम, ऐतिहासिक वृत्त आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ अन्तर्भूत हैं। यह ब्रज-भाषा गद्य का उत्कृष्ट रूप है। वाक्य-रचना व्यवस्थित और स्वच्छ है। पण्डिताऊ कथंभूती शैली से मुक्त होने के कारण भाषा में प्रसार-क्षमता और प्रवाह है। शब्दावली में बोलचाल के सरल-सुबोध तत्सम-तद्भव रूपों का प्रयोग है। संस्कृत के साथ उर्दू-फ़ारसी के प्रचलित शब्द भी सहज रूप में ग्रहण किये गये हैं। वास्तव में इसी गद्य को व्यावहारिक गद्य के विकास का सोपान मानना चाहिए।

तीसरे वर्ग में टीकाओं तथा तिलक आदि का अन्तर्भाव है। रीति-ग्रन्थों में प्रयुक्त वार्त्तिक तथा वचनिकाएँ आदि भी इसी के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अनेक टीकाओं तथा तिलकों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछेक का सम्बन्ध संस्कृत के शृंगार-मुक्तकों से अवश्य है परन्तु अधिकांश हिन्दी काव्य के अमर ग्रन्थों को लेकर ही चले हैं। उत्तर-मध्य युग की पण्डित-गोष्ठियों में सबसे अधिक प्रचार बिहारी-सतसई का था अतः यह स्वाभाविक ही है कि सबसे अधिक टीकाएँ भी इसी ग्रन्थ पर लिखी गईं। बिहारी-काव्य के आचार्य कविवर रत्नाकर के अनुसार सतसई पर लगभग बीस टीकाएँ ब्रज-भाषा गद्य में लिखी गई हैं। इनमें से अधिकांश हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। बिहारी-सतसई की इन टीकाओं में सबसे प्रमुख हैं कृष्णलाल की टीका, अनवर-चन्द्रिका टीका, पन्ना-निवासी कर्ण कवि की साहित्य-चन्द्रिका टीका, सूरति मिश्र की अमर-चन्द्रिका, ईसवीखाँ की रस-चन्द्रिका, हरिचरणदास की हरिप्रकाश-टीका, ठाकुर कवि द्वारा लिखित सतसैया-वर्णार्थ अर्थात् देवकीनन्दन की टीका, और सरदार कवि की टीका। लोकप्रियता की दृष्टि से बिहारी के उपरान्त केशव तथा तुलसीदास का नाम आता है। केशव की कविप्रिया पर दो प्रसिद्ध ब्रज-भाषा टीकाएँ हैं—(१) हरिचरणदास की टीका (रचनाकाल सन् १७७८ ई०) और (२) लछमनराव की लछमन-चन्द्रिका टीका (समय सन् १८१६ ई०)। रामचन्द्रिका पर जानकीप्रसाद की टीका है जिसका रचना-काल सन् १८१५ है। रसिकप्रिया पर सरदार कवि की टीका उपलब्ध है—यह ग्रन्थ प्रकाशित है — इसका समय सन् १८४६ ईसवी है। रामचरित-मानस के टीकाकारों में अयोध्या के महन्त बाबा रामचरन तथा काशी-नरेश ईश्वरीनारायणसिंह प्रमुख हैं। मतिराम आदि कुछ अन्य कवियों को भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ परन्तु उनके ग्रन्थों की टीकाएँ संख्या में अत्यन्त नगण्य हैं।

इन सभी टीकाओं की स्वतन्त्र समीक्षा करने का तो अवकाश नहीं है और

न उनमें इतना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य ही है। अतएव उनके प्रतिपाद्य विषय, भाष्य-पद्धति, तथा भाषा-शैली आदि का सामान्य विवेचन करना ही यथेष्ट होगा।

प्रतिपाद्य विषय—टीका का मूल प्रतिपाद्य तो अर्थ की व्याख्या ही है, परन्तु अर्थ के सम्यक् निरूपण के लिए वक्ता-बोधव्य, प्रसंग आदि का स्पष्टीकरण, रस, अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि काव्यांगों का उद्घाटन भी आवश्यक हो जाता है। रीति-काल में काव्यांगों का सचेष्ट प्रयोग हुआ था—अतएव इस युग की वरिष्ठ रचनाओं की टीकाएँ तो शास्त्रीय विवेचन के बिना पूर्ण ही नहीं हो सकती थीं। बिहारी और केशव दोनों ही रीति-शास्त्र के मर्मज्ञ थे—अतएव उनकी टीकाओं में अर्थ की व्याख्या की अपेक्षा काव्यांगों का निरूपण अधिक आवश्यक था। बिहारी की टीकाओं में प्रायः तीन रूप मिलते हैं—कृष्णलाल आदि की कुछ टीकाओं में तो केवल वक्ता-बोधव्य का निर्देश करते हुए भावार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए एक दोहे की व्याख्या लीजिए—

पार्यौ सोर सुहाग कौ इन बिनु ही पिय नेह।
उन दौंही अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

'टीका–मुग्धा स्वाधीनपतिका सखी को बैन सखी सौं। हे सखी! इन राधिका बिन ही भरतार सौं नेह सुहाग कौ सोर पार्यौ है। सो कैसेक नायका के अलसौंही देह करने तैं नायक दोनु ही अंखियाँ करिकै देखि सो चित चढ़ी।' इस टीका को पढ़ कर जिज्ञासु पाठक के हाथ क्या लग सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। एक तो इसमें मूल दोहे का पाठ ही भ्रष्ट है—'उनदौंहीं' एक शब्द है किंतु प्रतिलिपि-दोष के कारण कृष्णलाल ने 'उन' और 'दौंही' दो पृथक् शब्द मान उनका इसी रूप में अर्थ किया है। दूसरे अंतिम चरण का क्या तात्पर्य है, यह समझना अत्यन्त कठिन है। कृष्णलाल ने अलंकार तथा रसांग आदि का निरूपण नहीं किया। अनवर-चंद्रिका का ढंग इसके विपरीत है—इसमें अलंकार, वक्ता-बोधव्य आदि का ही निरूपण है, अर्थ की व्याख्या नहीं है। परन्तु ऐसी टीकाओं की संख्या अधिक नहीं है। अधिकांश टीकाओं में सबसे पूर्व वक्ता-बोधव्य, फिर अर्थ की ग्रंथियों का उद्घाटन और अंत में अलंकार का निर्देश किया गया है। साहित्य-चंद्रिका और रस-चंद्रिका इस श्रेणी की टीकाओं में प्रमुख हैं—इनमें व्याख्या तथा काव्यांग-विवेचन दोनों का उचित संयोग है: रस-चंद्रिका में ईसवी खाँ नायिका-भेद तथा हाव-भाव आदि का भी यथास्थान निरूपण करते गये हैं। हरिचरणदास कृत हरिप्रकाश-टीका में, ठाकुर कवि की सतसैया-वर्णार्थ टीका में, तथा सरदार कवि-लिखित रसिकप्रिया की टीका में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत

निरूपण किया गया है : इनकी व्याख्या सूक्ष्म है—शब्द-चमत्कार की बारीकियों को खोलने की चेष्टा इन में स्पष्ट परिलक्षित होती है। रामचरित-मानस तथा कृष्ण-काव्य की टीकाओं में भक्ति-शास्त्र का आधार ग्रहण किया गया है---काव्यांग का निरूपण वहाँ गौण है, भक्ति-निरूपण ही प्रधान है।

व्याख्या-शैली—इन टीकाओं की व्याख्या-शैलियों पर भी सस्कृत की छाप स्पष्ट है। यद्यपि अधिकांश टीकाओं में सामान्य वृत्ति-शैली का ही अवलम्बन किया गया है, परन्तु दो-चार में खण्डान्वय-शैली का भी प्रयोग मिलता है। वृत्ति-शैली में पूरे वाक्य या उपवाक्य का अर्थ किया जाता है, परन्तु खण्डान्वय में स्वतंत्र पदों को या वाक्यांशों को लेकर खण्ड-रूप में उनकी व्याख्या की जाती हैं। खण्डान्वय की प्रणाली में यद्यपि अर्थ तो अधिक स्पष्ट हो जाता है, और कभी-कभी अनावश्यक स्पष्टीकरण से पाठक का मन खीझने भी लगता है जैसे 'उन दौही कहा उजागरी, कहै कहा करिकैं'—इत्यादि। खण्ड-खण्ड अर्थ करने से वाक्य टूट जाने से बात अधूरी रह जाती है, इसलिए टीकाकार को बार-बार टूटे वाक्य को जोड़ने के लिए प्रश्नोत्तर के रूप में कुछ शब्द अपनी ओर से रखने पड़ते हैं—सो कैसे हैं ? कैसो है वाको रूप ? प्रिया का बोध कैसे ? आदि ? इसी को शुक्लजी ने कथंभूती शैली कहा है। इस खण्डान्वय-शैली में कभी-कभी शब्दों की चीरफाड़ की नौबत भी आ जाती है : अनेकार्थ-निरूपण का चमत्कार दिखाने के लिए भी टीकाकार प्रायः इस पर हाथ आज़माता है। संस्कृत टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता है शास्त्रार्थ—जिसमें गूढ़ तथ्यों का उद्घाटन करने के लिए लेखक स्वयं ही पाठक की ओर से प्रश्न उठाकर फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार शंका-समाधान के द्वारा अनेक ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। ठाकुर कवि ने अपनी सतसैया-वर्णार्थ टीका में, सरदार कवि ने अमर-चंद्रिका में इस पद्धति का अवलम्बन किया है। परन्तु यह पद्धति सर्वत्र सफल नहीं होती—वास्तविक जिज्ञासा के अभाव में केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किये जाने पर इससे अनर्थ भी हो जाता है, तथा आशय और भी उलझ जाता है : अमर-चंद्रिका में प्रायः यही हुआ है।

भाषा:—व्रज-भाषा की इन टीकाओं का स्मरण प्राचीन काव्य-ग्रंथों के अध्ययन में सहायक होने के कारण आज इतना नहीं होता जितना कि प्राचीन गद्य—विशेषकर दुर्लभ व्रज-भाषा गद्य—के उदाहरण होने के कारण। परन्तु व्रज-भाषा गद्य के विकास में इन्होंने कोई विशेष योगदान नहीं किया—इनका महत्त्व वास्तव में अवशेष (रैलिक) के रूप में ही अधिक है।

साहित्यिक भाषा के दो गुण हैं : शुद्धि और शक्ति। प्रत्येक भाषा की

अपनी प्रकृति और तदनुकूल व्याकरण होता है—उसका यथोचित निर्वाह ही भाषा की शुद्धि है। अतएव शुद्धि के अंतर्गत किसी भाषा की प्रकृति और व्याकरण को दृष्टि में रखकर संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद तथा कृदंत आदि के रूपों की परीक्षा की जाती है। ब्रज-भाषा की इन विवेच्य टीकाओं की शब्दावली में शास्त्रीय निरूपण होने के कारण अमर्ष, ईर्ष्या, संचारी, स्वाधीनपतिका, अन्य-संभोग-दुःखिता, सुरतांत, किवा, सौभाग्य, आलस्यवलित इष्ट, उल्लंघन, कवि-निबद्ध आदि संस्कृत तत्सम शब्दों का मुक्त प्रयोग है। परन्तु सामान्यतः ब्रज-भाषा की प्रकृति तद्भव-प्रधान है: मूल ग्रंथों में भी तद्भव शब्दों का प्राधान्य रहने के कारण टीकाओं में भी उनकी बहुलता होना स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त अर्धतत्सम शब्द भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं – जो प्रायः भाषा की प्रकृति के अनुकूल नही पड़ते: जैसे रात्रि का रात्री, आसक्तता, सूक्षम आदि। संस्कृत तथा भाषा की शब्दावली के साथ ही इनमें अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का भी अभाव नही है: अनेक टीकाओं की रचना मुसलमान शाहज़ादों और नवाबों के आश्रय में या मुसलमान लेखकों द्वारा हुई थी, इसलिए बहुत से अरबी-फ़ारसी के घुले-मिले शब्दों का प्रयोग अनायास ही हो गया है जैसे—मुलाक़ात, शोर या (सोरु) नज़र, वास्ते आदि। समग्रतः इन टीकाओं की शब्दावली के विषय में यही कहा जा सकता है कि वार्ता आदि के वर्णनात्मक गद्य की अपेक्षा इनमें संस्कृत के तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है—यद्यपि ऐसा विषय-प्रतिपादन के आग्रह से ही हुआ, फिर भी ब्रज-भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होने से संस्कृत के अधिकांश शब्द पानी पर तैरते हुए तैल-बिन्दुओं के समान पृथक् ही रहते हैं।

संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, कारक तथा कृदंत आदि के रूपों के विषय में ब्रज की सर्वमान्य काव्य-भाषा में ही जब इतनी अव्यवस्था थी, तो उपेक्षिता गद्य-भाषा की अवस्था तो और भी दयनीय होनी चाहिए। संज्ञा-रूपों में ओकारांत के साथ-साथ आकारान्त रूप भी प्रायः मिल जाते हैं—ईसवीखाँ ने प्रायः आकारांत संज्ञा-रूपों का ही प्रयोग किया है और उधर सरदार कवि पर भी खड़ी बोली के संज्ञा-रूपों का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वनामों में अनेकरूपता और भी अधिक है—'या' और 'वा' के साथ 'इस' और 'उस' का प्रयोग, 'मो' के साथ कहीं-कहीं 'मुझ' का प्रयोग भी मिल जाता है। सबसे अधिक अव्यवस्था है क्रियापदों, कृदन्तों तथा कारक-चिह्नों में। सामान्य वर्तमानकालिक क्रियाओं में तिङन्त रूपों के साथ-साथ 'ऐ'कारान्त रूप—जो वास्तव में तिङन्त के ही घिसे हुए रूप हैं—प्रायः मिलते हैं—भूतकाल में 'ओ' और 'औ' की भ्रान्ति तो बहुत

साधारण है, 'ओ' और 'यो' का विकल्प भी कम नहीं है जैसे 'लिखो' और 'लिख्यो' दोनों का ही भूतकालिक प्रयोग हुआ है। मुसलमान लेखकों ने और बाद के टीकाकारों ने खड़ी बोली के प्रभाववश आकारान्त प्रयोग भी मुक्त रूप से किये है—उदाहरण के लिए ईसवीखाँ और सरदार कवि दोनों में 'हुआ' 'लिखा' आदि क्रिया-रूप कहीं भी मिल सकते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् काल में 'गे' और 'हैं' दोनों विकल्पो का प्रयोग है—जैसे 'आइंगे' और 'आइहै', 'रहिहैं' और 'रहेंगे' आदि। कारक-चिह्नों में कर्म आदि में को, कौ, कौं, कों ये सभी रूप मिलते है और अपादान में तें, तैं, मे, सों, सौं, पै, पर आदि का विकल्प हैं। कर्त्तृ-चिह्न 'ने' के साथ तो प्रायः अत्याचार किया गया है—संस्कृत वाक्य-रचना तथा अवधी के प्रभाववश अथवा इन दोनों से भी अधिक काव्यगत वाक्य-रचना के प्रभाव के कारण गद्य मे भी 'ने' को छोड़ दिया गया है। यथा—'हे सखी इन राधिका बिन ही भरतार मौ नेह सौहाग कौ सोर पारचो है।' (कृष्णलाल कृत बिहारी-सतसई-टीका)। या भारतेन्दु के भी परवर्ती सरदार कवि के ही उद्धरण लीजिए : 'इन फूल नयो जल भरि दीन्ह्यो उन कली कर दई, तब इन कलिका करी,' आदि। वाक्य-रचना की स्थिति कदाचित् सबसे अधिक चिन्त्य है। सामान्यतः टीका में वाक्य-रचना-सौष्ठव के लिए कम ही अवकाश रहता है, और यदि खण्डान्वय-पद्धति का उपयोग किया जाय तब तो उसकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। परन्तु इन सीमाओं के भीतर रह कर भी संस्कृत टीकाओं में गद्य का रूप अधिक विकृत नहीं होने पाया। उसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो संस्कृत भाषा अपनी अद्भुत समास-शक्ति के कारण लघु वाक्यों में बिखरने नहीं पाती, दूसरे संस्कृत की वाक्य-रचना क्रिया पर और विशेषकर पूरक क्रिया पर अपेक्षाकृत बहुत कम निर्भर रहती है। इसके विपरीत हिन्दी-वाक्य सामान्य क्रियापद का और उससे भी अधिक पूरक क्रिया 'है' और 'था' आदि का मुहताज है : अतएव खण्डान्वय की संगति हिन्दी की वाक्य-रचना के साथ बिल्कुल नहीं बैठती। यही कारण है कि इन टीकाओं के वाक्य प्रायः अपूर्ण हैं, और पूर्णता के अभाव में उनकी अर्थ-व्यंजना भी दूषित हो जाती है। भाषा बड़ी उखड़ी-सी प्रतीत होती है : प्रवाह का तो प्रश्न ही नहीं हैं, क्रम-व्यवस्था तक का निर्वाह नहीं हो पाया। मूल छन्द की मसृण पद-रचना और सरल-कोमल वाग्धारा की तुलना में यह लद्धड़ और गुट्ठल गद्य भयंकर लगता है जिसके परिणाम-स्वरूप मूल अर्थ सुबोध होने के स्थान पर और भी दुर्बोध बन जाता है। उपर विराम-चिह्नों के एकान्त अभाव में दुरूहता और भी बढ़ जाती है। विराम-चिह्नों का यह अभाव विशेष आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि

हिन्दी में इनका आविर्भाव आधुनिक युग में अँग्रेजी के प्रभाव से ही हुआ है। फिर भी कम से कम पूर्ण विराम का प्रयोग तो किया ही जा सकता था—उसका प्रयोग छन्दों में बराबर होता रहा है। परन्तु सरदार कवि की टीका तक में भी उसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता। कुछ ही टीकाओं की प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें पूर्ण विराम के लिए कहीं खड़ी पाई और कहीं शून्य का अंक दिया हुआ है, परन्तु इसके प्रयोग में भी कोई क्रम नहीं है।

भाषा का दूसरा गुण है शक्ति अर्थात् अर्थ-व्यंजना की सामर्थ्य जिसके अन्तर्गत भाषा का सौष्ठव भी अपने आप आ जाता है। सामान्यतः परतन्त्र होने के कारण टीका की भाषा में किसी प्रकार के कला-शिल्प के लिए अवकाश नहीं रहता परन्तु फिर भी अर्थ-व्यंजना की सामर्थ्य तो उसके लिए भी उतनी ही आवश्यक है वरन् यह कहना चाहिए कि अन्य रूपों की अपेक्षा कदाचित् यहाँ उसकी आवश्यकता और भी अधिक है। टीका में लेखक की सहृदयता और उसकी मर्मज्ञता की परीक्षा होती है। जिस टीकाकार में काव्य के सूक्ष्मतम सौन्दर्य-रहस्यों के उद्घाटन की जितनी शक्ति होगी उतनी ही सफल उसकी टीका होगी। सौन्दर्य-रहस्यों का यह उदघाटन भाषा पर आश्रित है। अतएव टीका की भाषा के लिए तो सूक्ष्म व्यंजना-शक्ति और आनुगुणत्व पहली शर्त है। पर्याय आदि के चयन में टीकाकार को कवि से कम परिश्रम नहीं करना पड़ता। वास्तव में काव्य यदि सौन्दर्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति है तो सफल टीका इस सौन्दर्य की प्रत्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। कहने का तात्पर्य यह है कि टीका की भी अपनी कला होती है। उसकी भाषा-शैली का भी अपना पृथक् सौन्दर्य होता है—मल्लिनाथ, पद्मसिंह शर्मा, रत्नाकर आदि कृती टीकाकारों की भाषा इसका प्रमाण है। किन्तु अविकसित गद्य के अव्यवस्थित क्रिया-पदों और कारक चिह्नों से जूझने वाले इन ब्रज-भाषा टीकाकारों से इस कला-सौष्ठव की आशा करना उनके साथ अन्याय होगा।

: आठ :

फ्रायड और हिन्दी साहित्य

फ़ायड पर वार्ता प्रसारित करने का मुझ से आग्रह शायद इसलिए है कि मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ़ायडवादी समझते हैं। उनकी यह धारणा ग़लत है।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आज के विचार-जगत में फ़ायड ने भारी क्रांति की है, और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने-अनजाने उनका गहरा प्रभाव है। वे उन चार मनीषियों में से हैं जिन्होंने हमारी आज की युग-चेतना का निर्माण किया है। ये चार मनीषी हैं—डार्विन, मार्क्स, गांधी और फ़ायड। डार्विन का क्षेत्र है प्राकृतिक जगत, मार्क्स का सामाजिक अर्थात् आर्थिक और राजनीतिक जीवन, गांधी का आध्यात्मिक जीवन और फ़ायड का क्षेत्र है मनो-जगत। साधारणतः ये चारों क्षेत्र एक दूसरे से सम्बद्ध हैं—फिर भी वैशिष्ट्य के विचार से उपर्युक्त विभाजन किया गया है--वह न पूर्ण है और न ऐकान्तिक क्योंकि कोई भी जीवन-दर्शन ऐकान्तिक कैसे हो सकता है?

फ़ायड उपचार-गृह (क्लिनिक) से दर्शन की ओर बढ़े, रोगियों का उपचार करते-करते उन्होंने व्याधियों के मूल उद्गम तक पहुंच कर अन्तर्मन के विज्ञान की उद्भावना की।

फ़ायड के मूल सिद्धान्त और निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार हैं—हमारे मन के दो भाग हैं: चेतन और अचेतन (अवचेतन)। इनके बीच में एक तीसरा भाग भी है जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पहले है—इसे फ़ायड ने प्रीकान्शस अर्थात् पूर्व-चेतन कहा है। यह अचेतन के लिए एक प्रकार का द्वार है। चेतन की अपेक्षा अचेतन कहीं बृहत्तर और प्रवलतर है। फ़ायड ने इसके स्पष्टीकरण के लिए एक ऐसे पत्थर का दृष्टान्त दिया है जिसका तीन-चौथाई भाग जल में है और एक-चौथाई जल से ऊपर। यह तीन-चौथाई अचेतन है और एक-चौथाई चेतन। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है, जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें रहता है। अचेतन वह भाग है जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें नहीं होता परन्तु जो निरन्तर क्रियाशील रह कर हमारी प्रत्येक गति-विधि को अज्ञात

रूप से प्रेरित और प्रभावित करता रहता है। यह अचेतन हमारी उन इच्छाओं और चेष्टाओं का पुंज है जो • अनेक सामाजिक कारणों से—मूलत: सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव में चेतन मन से मुँह छिपा कर नीचे पड़ जाती है और वहाँ से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती है। इस अवस्था मे उन्हें अधीक्षक (सेन्सर) का सामना करना पड़ता है जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक-रूप है। वह इन असामाजिक इच्छाओं का दमन करने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह दमन एक छल मात्र होता है, दमित इच्छाएँ अनेक छद्म रूप रखकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ ही लेती हैं। ये मार्ग हैं स्वप्न, स्वप्न-चित्र और कला-साहित्य आदि। एक प्रकार से ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार "स्वप्न की व्याख्या" फ़ायड के शास्त्रीय विधान का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है।

मन का विभाजन फ़ायड ने एक और प्रकार से किया है : यहाँ भी उन्होंने उसके तीन अंग माने हैं—इड, ऐगो और सुपर-ऐगो अर्थात् इद, अहं और अति-अहं। परन्तु ये वास्तव में क्रमश: अचेतन, चेतन और अधीक्षक (सेन्सर) से बहुत भिन्न नही हैं। इड या इद हमारे रागों का पुंज है जिसमें अचेतन का ही प्राधान्य है। इसकी धारणा बहुत कुछ हमारी वासना से मिलती-जुलती है। अहं चेतन मन है जो नीचे इड या इद में से इच्छाओं के धक्के खाता हुआ सामाजिक मूल्यों के प्रति सचेष्ट रहता है। और अति-अहं संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है जिसका काम आलोचना और अधीक्षण करना है। फ़ायड के शब्दों में : अहं, इद का वह भाग है जिसका निर्माण ऐन्द्रिय ज्ञानमय चेतन के माध्यम से बाह्य जगत के सम्पर्क द्वारा हुआ है। इद का प्रेरक सिद्धान्त है आनन्दवाद और अहं का प्रेरक सिद्धान्त है वस्तुवाद। अहं में ज्ञान का प्राधान्य हैं और इद में वासना का—अहं विवेक और बुद्धि का प्रतीक है, और इद रागों का आवास है।[1]

---

१. It is easy to see that the ego is that part of the id which has been modified by the direct infeuence of the external world acting through the Pcpt—cs. × × × Moreover, the ego has the task of bringing the influence of the external world to bear upon the id and its tendencies and endeavours to substitute the reality-principle for the pleasure-principle which reigns supreme in the id. In the ego perception plays the part which in the id devolves upon instinct. The ego represents what we call reason and sanity in contrast to the id which contains the Passions

हमारा अचेतन जिन दमित इच्छाओं का पुंज है वे मूलतः काम के चारों ओर केन्द्रित है। इस प्रकार जीवन की मूल वृत्ति फ़ायड के अनुसार है काम। उनके अनुसार जीवन में दो वृत्तियाँ प्रधान हैं एक प्रेम करने की प्रवृत्ति इरॉस अर्थात् काम, दूसरी नाश करने की प्रवृत्ति अर्थात् थैनेटॉस। इनमें भी मुख्य है पहली, अर्थात् काम; दूसरी उसका विपर्यय मात्र है। इसी काम को फ़ायड ने 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी व्यष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में यहाँ तक कि समष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में भी काम के सूक्ष्म अंतर्सूत्र विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है जिसके फ़ायड ने कुछ वर्ग निश्चित किये हैं। परन्तु उनके विस्तार के लिए यहाँ अवकाश नही है।

रोग का निदान कर लेने के बाद फ़ायड उपचार के लिए अग्रसर होते है। यह तो निश्चित हो गया कि रोग का मूल कारण मन की ग्रन्थियाँ है, पर उनको खोला कैसे जाय? इसके लिए फ़ायड ने व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा "मुक्त सम्बन्ध" अथवा "मुक्त-सम्बद्ध-विचार-प्रवाह" शैली का आविष्कार किया जिसके द्वारा वे मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए विकारों को बाहर निकाल लाने का दावा करते थे। अचेतन से चेतन में आ जाने पर गाँठ चेष्टापूर्वक खोली जा सकती है; विकारों का "उन्नयन" किया जा सकता है। इस उपचार-प्रक्रिया में वे "कार्य-कारण-वाद" तक पहुंच गये। "कार्य-कारण-वाद" के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है जो ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अचानक अथवा दैवात् होने वाले कार्य भी सर्वथा सकारण हैं—उनके कारण हमारे चेतन या अचेतन में मिलते हैं। इस प्रकार फ़ायड ने कार्य-कारण-वाद को अपनी चिन्ताधारा का आधार बनाया और आनन्दवाद को जीवन का लक्ष्य माना।

इन सिद्धातों के प्रकाश में धीरे-धीरे फ़ायड ने जीवन के प्रमुख तत्वों का व्याख्यान आरम्भ कर दिया। समाज-विधान, राजनीति, राष्ट्रीयता, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला आदि पर फ़ायड की मर्म-भेदी दृष्टि पड़ी। उनके निष्कर्ष जितने मौलिक थे उतने ही विक्षोभकारी परन्तु उनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक हुआ और जीवन के पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने बहुत बड़ा योग दिया। फ़ायड के अनुसार जीवन की मूल-शक्ति है काम अथवा राग जिसकी माध्यम हैं सहज-वृत्तियाँ। इन सहज-वृत्तियों के उचित परितोष में ही जीवन की सिद्धि है। यही फ़ायड का आनन्द सिद्धांत—'प्लैज़र-प्रिंसिपिल'—है। इसे ही वे जीवन का मूल सिद्धांत मानते हैं।[१] मनुष्य की सभी चेष्टाएँ इसी लक्ष्य की ओर

---

१ In the Psycho-analytical theory of the mind we take it

उन्मुख हैं—वस्तु-सिद्धान्त द्वारा आरोपित अनेक बाधाएँ इसकी साधक ही हैं—अन्त में उनका लक्ष्य भी यही ठहरता है—संयम-नियम, विलम्बन आदि की विधियाँ सभी आनन्द की ओर ही उन्मुख हैं। समाज का विधान ऐसा होना चाहिए जिसमें जीवन की मूल प्रवृत्तियों के परितोष की व्यवस्था हो—अन्यथा समाज का विधान स्थिर नहीं रह सकता। वह विद्रोह, अशांति, दुःख-दारिद्रय, कुंठा आदि का शिकार हो जायेगा। मानव-जीवन की इन्हीं सहज आवश्यकताओं की पूर्ति समाज और शासन-व्यवस्था का—जिसके अन्तर्गत राजनीति आदि सत्ता-परक व्यवस्थाएँ आ जाती है—मूल और एकमात्र उद्देश्य है। यह परितोष सदा तात्कालिक ऐन्द्रिय स्तर पर ही नहीं होता; बौद्धिक-रागात्मक उन्नयन भी इसकी एक सफल विधि है। वास्तव में राग का प्राधान्य मानते हुए भी अन्त में फ्रायड को बुद्धि की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी, राग के अतिचार से त्राण पाने के लिए बुद्धि की शरण लेना अनिवार्य हो गया। फ्रायड को यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा कि रागमय जीवन और विवेकमय जीवन में सतत संघर्ष रहता है—यह संघर्ष ही सभ्यता का मूल आधार है। आज के सभ्य जीवन की विकृतियाँ और कुंठाएँ राग और विवेक के असामंजस्य का ही परिणाम हैं। फ्रायड ने नैतिक विधि-निषेध के मार्ग की निन्दा करते हुए मनोवैज्ञानिक उन्नयन—उन्हीं के शब्दों में "अहं के सामाजीकरण"—का मार्ग उपदिष्ट किया। नैतिक विधि-निषेध जहाँ ग्रन्थियों की वृद्धि करते हैं तथा उन्हें और अधिक जटिल बनाते हैं, वहाँ उन्नयन अथवा अहं का सामाजीकरण—जो राग का बौद्धिक परितोष है—ग्रन्थियों को सहज ढँग से खोलकर मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। यह मानसिक स्वास्थ्य ही व्यष्टि की सफलता है और यही व्यापक स्तर पर समष्टि अथवा समाज की। प्रगति अथवा विकास के मूल्यांकन का उचित आधार यही है—समाज की मुक्ति इसी में है। धर्म को फ्रायड ने एक प्रकार की इच्छा-पूर्ति या निम्न स्तर पर सामूहिक भ्रम मात्र माना है। वह मूलतः भविष्य-स्वप्न यूटोपिया आदि की भाँति एक प्रकार की परितोषदायिनी कल्पना या अधिक-से-अधिक उन्नयन का विधान ही है। ईश्वर पितृ-भाव का प्रक्षेपण है और धार्मिक प्रथाएँ आदि स्वप्न-चित्रों के रूढ़ प्रतीक हैं। इसी प्रकार कला और साहित्य को भी फ्रायड ने एक प्रकार की क्षतिपूरक क्रिया एवं उन्नयन का साधन माना है और उनका उद्गम भी मानव के स्वप्न-चित्रों को ही माना है।

---

for granted that the course of mental processes is autom[atically]

शक्ति और सीमा

फ़ायड-दर्शन की अपनी शक्ति और परिसीमाएँ हैं। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि अचेतन का अन्वेषण कर उसने मानव-मनोविश्लेषण के लिए अपार क्षेत्र का उद्‌घाटन कर दिया है। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएँ जिन पर रहस्य का घना आवरण पड़ा हुआ था, बुद्धि और विवेक के प्रकाश में आईं और जीवन के पुनर्मूल्यन के नवीन साधन उपलब्ध हुए। व्यक्ति और समाज के अनेक जीर्ण रोगों का उपचार भी इसके द्वारा सम्भव हुआ और अन्तर्मनोविज्ञान का आरम्भ हुआ। अध्यात्म, दर्शन, समाज-शास्त्र, इतिहास, साहित्य और कला के मौलिक रहस्यों के उद्‌घाटन में फ़ायड के सिद्धान्तों और उनकी पद्धति ने अभूतपूर्व योग दिया।

दूसरे, काम को मूलभूत वृत्ति मानते हुए उन्होंने मानव के रागात्मक सम्बन्धों का अत्यन्त सूक्ष्म-गहन और किन्हीं अंशों में सर्वथा सटीक व्याख्यान प्रस्तुत किया इससे अनेक भ्रान्तियों तथा किम्वदन्तियों का विघटन हुआ और जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायता मिली।

फ़ायड-दर्शन की परिसीमाएँ भी अत्यन्त स्पष्ट हैं: उस पर अनेक आरोप लगाए गए हैं। पहला आरोप तो यह है कि वह वैज्ञानिक न होकर आनुमानिक है। उनकी व्याख्या स्थान-स्थान पर बड़ी दूरारूढ़ और अविश्वसनीय हो जाती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वे ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिला देते हैं। दूसरा यह कि फ़ायड के निष्कर्ष स्वस्थ व्यक्तियों की मन:स्थिति पर आधृत नहीं हैं—विकृतियों के आधार पर प्रतिपादित जीवन-दर्शन स्वस्थ मानव का जीवन-दर्शन कैसे हो सकता है ? यह फ़ायड के समसामयिक और प्रतिद्वन्द्वी विचारक युंग का आरोप है। तीसरा दोष इसका यह है कि यह एकांगी है—काम जीवन की मूल प्रवृत्ति तो अवश्य है परन्तु वह अंग ही है, सर्वांग नहीं है। फ़ायड ने उसी को सर्वस्व मानकर अपने जीवन-दर्शन को एकांगी बना दिया है।

फ़ायड के विरुद्ध चौथा आरोप यह है कि उनका जीवन-दर्शन अभावात्मक है, उसमें समाधान नहीं है; साथ ही वह व्यष्टि तक ही सीमित है, समष्टि के लिए उनके पास कोई सन्देश नहीं है। इसलिए उसमें आशा और गति नहीं है, एक प्रकार का अवसाद और अगति है। मैं समझता हूँ कि यह अन्तिम आरोप अनुचित और अन्यायपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि फ़ायड में प्रचारक या सुधारक की जैसी मुखर सोद्देश्यता नहीं थी—उनमें वैज्ञानिक की धीरता थी। आरम्भ में उनके प्रयोग और निष्कर्ष अभावात्मक अवश्य थे और प्रयोगावस्था में ऐसा होना स्वाभाविक भी है, परन्तु धीरे-धीरे उनकी दृष्टि भावात्मक हो गई थी और उन्न-

यन अथवा अहं के सामाजीकरण में उन्होंने अपना समाधान प्रस्तुत किया। फ़ायड पेशेवर डाक्टर थे, केवल निदान करके ही छोड़ देना डाक्टर का काम नहीं है। उनका दर्शन सहज प्रवृत्ति-मूलक दर्शन है, जो निवृत्ति-मूलक दर्शनों से अधिक कल्याणकारी और रुचिकर होना चाहिए।

फ़ायड हिन्दी में पिछले १०-१५ वर्षों में ही आए हैं। इससे पहले 'घुतुर्मु गं पुराण' आदि निकले थे पर न उनका लेखक फ़ायड को समझ सका था और न पाठक उस लेखक को। वह एक अनर्गल प्रलाप मात्र था। उसके बाद अज्ञेय जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ़ायड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आये और धीरे-धीरे उनकी ओर आकर्षण बढ़ा। फ़ायड का प्रभाव और प्रेरणा कई रूपों में आँके जा सकते हैं। एक तो फ़ायड की प्रेरणा से हिन्दी में शृंगार का पुन-रुत्थान हुआ। द्विवेदी युग की स्थूल नैतिकता और छायावाद को अतीन्द्रिय सौन्दर्योपासना के कारण शृंगार की जो प्रवृत्तियाँ दब गई थीं या रूपान्तरित हो गई थीं, वे फ़ायड के प्रभाव से फिर उभर आईं और हिन्दी में शृंगार-साहित्य फिर ज़ोर पकड़ गया। परन्तु इस शृंगारिकता का रूप प्रचलित रूपों से भिन्न है। एक तो इसमें शृंगार स्वयं-साध्य नहीं हैं वरन् मनोविश्लेषण का माध्यम है। लेखक का उद्देश्य काम-कथाएँ लिखना अथवा रति-भाव की अभि-व्यक्ति करना इतना नहीं होता जितना काम-कुण्ठाओं का विश्लेषण करना। इस साहित्य में विकृतियों का चित्रण अधिक हैं और चौंका देने वाली बातें भी हैं। परन्तु इसके द्वारा सस्ती शृंगारिकता, चलते-फिरते प्रेम की कथाओं को या प्रेम की हल्की अभिव्यक्तियों को दुरुत्साहन न मिला। इसके द्वारा ऐसे रस का परिपाक हुआ जिसमें गहरी शृंगारिकता के साथ बौद्धिक अन्वेषण का भी आनन्द मिला हुआ है।

इसी क्षेत्र में फ़ायड का दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि काम की छद्म चेतना और छद्म अभिव्यक्तियों की असलियत खुल गई। प्रकृति पर प्रणय-पात्र का आरोप अथवा परोक्ष के प्रति प्रणय-निवेदन अथवा अतीन्द्रिय प्रेम में आस्था कम हो गई और काम को भौतिक स्तर पर स्वीकृति मिली। मन की छलनाएँ कम हुईं और वास्तविकता को स्वीकार करने का आग्रह बढ़ा।

अवचेतन विज्ञान के प्रभाव से हिन्दी साहित्यकार के चिन्तन और भावन में गहराई, सूक्ष्मता तथा प्रखरता आई। मन के सूक्ष्म स्तरों तक पहुंचने का, भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीचियों को शब्द-बद्ध करने का आग्रह बढ़ा। छाया-वाद की सूक्ष्म चेतना को समर्थन प्राप्त हुआ। साथ ही और भी गहराइयों में जने की प्रेरणा मिली तथा अवचेतन को यथावत् चित्रित करने के लिए सफल

असफल प्रयोग हुए । जिस समय प्रगतिवाद के प्रचारक जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के साथ कला का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसे बहिर्मुख करने के लिए नारे लगा रहे थे, फ़ायड के प्रभाव से उसके अन्तर्मुखी रूप को यथेष्ट बल मिला और वह इश्तिहारों के स्तर पर आने से बच गई । हिन्दी के लिये फ़ायड का यह वरदान सिद्ध हुआ ।

विचार के क्षेत्र में भौतिक-बौद्धिक मूल्यों की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गई और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में सहायता मिली । इस प्रकार फ़ायड ने प्रगति की परम्परा को भी आगे बढ़ाया, साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रवृत्तियों के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए एक नवीन मार्ग खुल गया जिससे कर्ता तथा कृति का मूल सम्बन्ध स्पष्ट करने में बड़ी सुविधा हुई और साहित्य के अध्ययन-आलोचन के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा ।

काव्य-शिल्प पर भी फ़ायड का प्रभाव कम नहीं पड़ा । उनकी "मुक्त-सम्बन्ध" शैली को तो कथाकारों ने सीधा ही अपना लिया । साथ ही स्वप्न-चित्रों के सृजन और उद्‌घाटन का भी हमारे साहित्य में बड़े वेग के साथ प्रचार हुआ ।

परन्तु यह तो एक पहलू हुआ । नादान उत्साहियों के हाथों में पड़ कर फ़ायड की दुर्दशा और साहित्य की छीछालेदर भी हिन्दी में कम नहीं हुई क्योंकि फ़ायड-दर्शन एक दुधारा शस्त्र है, जो दोनों तरफ़ काट कर सकता है ।

: नौ :

कामायनी में रूपक-तत्व

कामायनी के रूपक-तत्व की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है :—

१. रूपक से क्या अभिप्राय है ? और २. कामायनी रूपक है भी या नहीं ?

रूपक के हमारे साहित्य-शास्त्र में दो अर्थ हैं। एक तो साधारणतः समस्त दृश्य काव्य को रूपक कहते हैं, दूसरे रूपक एक साम्य-मूलक अलंकार का नाम है जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद-आरोप रहता है। इन दोनों से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत अधुनातन अर्थ हैं और इस नवीन अर्थ में रूपक अँग्रेजी के 'एलिगरी' का पर्याय है। 'एलिगरी' एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते है। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वि-अर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ होता है। हमारे यहाँ इस प्रकार की रचना को प्रायः अन्योक्ति कहा जाता था। जायसी के पद्मावत के लिए आचार्य शुक्ल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अन्योक्ति दोनों अलंकारों का योग है। इसमें जहाँ एक ओर साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ—गूढ़ार्थ—रहता है, वहाँ अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर श्लेष, साम्य आदि के आधार पर अभेद-आरोप भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक अलंकार में जहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है, वहाँ कथा-रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। वहाँ भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धान्तिक होती है। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक, नैतिक, राज-नीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है। परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नहीं होता। वह प्रायः प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है जो उससे ध्वनित होता है—किसी प्रबन्ध-काव्य की प्रासंगिक कथा की भाँति जुड़ा हुआ नहीं होता।

इस प्रकार इस विशिष्ट अर्थ में रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्वि-अर्थक कथा से है जिसमें किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ अथवा अन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है।

अतएव, 'क्या कामायनी रूपक है ?'—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह देखना है कि क्या कामायनी की कथा में प्रस्तुतार्थ के अतिरिक्त किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ की अन्तर्धारा भी वर्तमान है। इस प्रश्न के उत्तर का संकेत प्रसादजी ने स्वयं कामायनी के आमुख में दिया है :

"आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है।......इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। × × ×

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। × × ×

यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसलिये मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।......इन सभी के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।"

इसका अभिप्राय यह है कि कामायनी को कवि ने मूलतः एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही लिखा है, परन्तु इसकी कथा में रूपक की सम्भावनाएँ निहित हैं और यदि इसे रूपक भी मान लिया जाय तो कवि को वह अस्वीकार्य नहीं होगा। अर्थात् मूल रूप से नहीं तो गौण रूप से कामायनी में रूपक-तत्व निश्चित ही वर्तमान है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों का प्रतीकमय सांकेतिक व्यक्तित्व तथा उसकी मुख्य घटनाओं का श्लेष-गर्भित गूढ़ार्थ दोनों ही इस मत की पुष्टि करते हैं। अतएव कामायनी में रूपक-तत्व की स्थिति के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता। वह निश्चय ही है, और काफ़ी स्पष्ट है।

कामायनी की व्यक्त कथा में आदिम पुरुष मनु और उसकी सहचरी आदिम नारी श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि के विकास का वर्णन है। अहंकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनंदमयी स्थिति तक—मनोमय कोश से आनंदमय कोश तक—उसका अप्रस्तुत पक्ष है। कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक-पौराणिक है और अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक है—और इस प्रकार दोनों पक्षों में निकट सम्बन्ध है जो इस कथा की एक विशेषता है, अन्यथा रूपकों में साधारणतः इस तरह का निकट सम्बन्ध रहता नहीं है।

पहले पात्रों को लीजिए : कामायनी के प्रमुख पात्र हैं मनु, श्रद्धा और

इड़ा। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर-पुरोहित आकुलि और किलात। काम और लज्जा अशरीरी पात्र हैं। वे मूलतः ही सांकेतिक हैं। मनु, जैसा कि स्वयं प्रसाद जी ने लिखा है, मन का—मनोमय कोश में स्थित जीव का—प्रतीक है। एक स्थान पर व्याकरण में मनु और मन को एक-रूप माना गया है। **'मन्यते अनेन इति मनुः'**—जिसके द्वारा मनन किया जाये वह मन है; वही मनु है। मन से अभिप्राय यहाँ चेतना से (Consciousness) है। उसका मूल लक्षण है अहंकार—'मैं हूँ' की भावना—जो अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व का स्थायी आधार निस्सन्देह वही अहंकार है :

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में।
(आशा)

किन्तु सकल कृतियों की
सीमा हैं हम ही अपनी तो।
पूरी हो कामना हमारी
विफल प्रयास नहीं तो।
(कर्म)

यह जीवन का वरदान मुझे
दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर सके भार।

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।

मननशीलता अर्थात् निरंतर संकल्प-विकल्प अहंकार के संचारी हैं। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मन की प्रजा कहा गया है। प्रथम दर्शन के समय हमारा मनु के इसी मननशील, संकल्प-विकल्पमय रूप से साक्षात्कार होता है। मनु के व्यक्तित्व में आदि से अंत तक भूत-भविष्यत्, प्रकृति-परमतत्व आदि के चिंतन और तज्जन्य संकल्प-विकल्प का प्राधान्य है।

कामायनी की दूमरी प्रमुख पात्र है श्रद्धा। श्रद्धा, प्रसादजी के अपने शब्दों में, हृदय की प्रतीक है। **'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु !' (ऋग्वेद)।** कामायनी में स्थान-स्थान पर उसके इस रूप की स्पष्ट प्रतिकृति मिलती है :

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त।

वह गन्धर्वों के देश में हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य खोजने के लिए आती है। उसके व्यक्तित्व के मूल तत्व हैं एक ओर सहानुभूति, दया, ममता, मधुरिमा, त्याग तथा क्षमा और दूसरी ओर अगाध विश्वास, उत्साह, प्रेरणा, स्फूर्ति आदि जो हृदय के कोमल और सबल पक्षों की विभूतियाँ है। शुक्ल जी ने इसीलिए श्रद्धा को विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री माना गया है, और वह इस संसृति में प्रेम-कला का संदेश सुनाने के लिए अवतरित हुई है :

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला।

तीसरी मुख्य पात्र है इड़ा जो स्पष्टतः बुद्धि की प्रतीक है। प्रसाद जी ने व्यक्त रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र अंकित किया है :

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

.........भरी ताल।

उपर्युक्त चित्र में बुद्धि के तर्क, भौतिक ज्ञान-विज्ञान, त्रिगुण आदि सभी तत्वों का अवयव-रूप में समावेश कर दिया गया है। वैसे भी उसका चरित्र एकांत बौद्धिक है। वह हृदय की विभूतियों से वंचित व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखंडता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की व्यवस्था करती है।

अब गौण पात्र शेष रह जाते हैं : सबसे पहले श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार आता है। उसका कोई विशेष व्यक्तित्व नहीं है—यहाँ तक कि उसका नामकरण संस्कार भी नहीं किया गया। वह नव मानव का प्रतीक है जो अपने पिता से मननशीलता, माता से श्रद्धा अर्थात् हार्दिक गुण और इड़ा से बुद्धि ग्रहण कर पूर्ण मानवत्व को प्राप्त करता है। असुर-पुरोहित आकुलि और किलात आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। ज्यों ही मनु (मन) पाप (हिंसा-यज्ञ) की ओर आकृष्ट होता है, आकुलि-किलात (आसुरी वृत्तियाँ) उसको दुष्प्रेरणा देने के

लिए तुरंत ही उपस्थित हो जाते है और उसे दुष्कर्म मे प्रवृत्त करते है। फिर, जब मनु के विरुद्ध विद्रोह होता है तो ये ही विद्रोहियों के नेता बन कर सामने आते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आसुरी वृत्तियाँ पहले तो मन को पाप-कर्म में प्रवृत्त करती है फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पड़ता है तो ये आसुरी वृत्तियाँ उलटे उसके कष्ट मे योग देती हैं।

इनके अतिरिक्त देव, श्रद्धा का पशु, और वृषभ तथा सोमलता के भी निश्चय ही सांकेतिक अर्थ हैं। देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं। देवों की निर्बाध आत्म-तुष्टि का अर्थ हैं इन्द्रियों की निर्बाध तुष्टि :

अरी उपेक्षा भरी अमरते !
री अतृप्ति ! निर्बाध विलास।

श्रद्धा का पशु भी जिसका नाम तथा जाति आदि का वर्णन तक नहीं दिया हुआ, स्पष्टतः एक प्रतीक है। वह सहज जीव-दया, करुणा – आधुनिक अर्थ मे अहिंसा—का द्योतक है :

एक माया आ रहा था पशु अतिथि के साथ
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।

वृषभ तो भारतीय अनुश्रुति में अनादि काल से धर्म का प्रतिनिधि माना जाता रहा है :

था सोमलता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि।

सोम-लता का सांकेतिक अर्थ है भोग। इस प्रकार सोम-लता से आवृत वृषभ का अर्थ हुआ भोग-संयुत धर्म जिसका उत्सर्ग करके मानव चिरानन्द-लीन हो जाता है।

अब तीन-चार प्रतीक और रह जाते है। जल-प्लावन, त्रिलोक और मानसरोवर। जल-प्लावन भारत के ही नहीं पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे दर्शन-साहित्य मे इसको प्रतीक-रूप मे ग्रहण कर उसका सांकेतिक अर्थ भी किया गया है। जब मन अबाध इन्द्रिय-लिप्सा का दास हो जाता है अर्थात् जब मन ऊपर विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की ओर बढ़ने के स्थान पर निम्नतम अन्नमय कोश में ही रम जाता है तो चेतना पूर्णतः उस माया में डूब जाती है।

त्रिलोक में प्राचीन त्रिपुरदाह के रूपक [illegible] रणा ग्रहण की गई है, और इसका प्रतीकार्थ अत्यन्त व्यक्त है। तीन लोक- [illegible] -लोक, कर्म-लोक तथा ज्ञान-लोक, चेतना की तीन अंगभूत प्रवृतियों—भा[illegible] कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के

प्रतीक हैं। जब तक ये तीनों वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं मन अशांत और उद्विग्न रहता है :

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

परन्तु जब श्रद्धा के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मानसरोवर जिसे शतपथ ब्राह्मण में मनोरवसर्पण कहा गया है—

'तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति'

--कैलाश शिखर पर वह स्थान है जहाँ मनु श्रद्धा की सहायता से पहुँचते हैं और अपने मानसिक क्लेश से मुक्ति पाते हैं। यह समरसता की अवस्था है मानसिक समन्वय की अवस्था जहाँ भाव, कर्म और ज्ञान में पूर्ण सामंजस्य हो जाता है।

मानसरोवर या मानस (कामायनी में मानस शब्द का प्रयोग है) इसी समरसता की अवस्था का प्रतीक है। यह मानस कैलाश शिखर पर स्थित है—कैलाश पर्वत आनन्दमय कोश का प्रतीक है।

कामायनी की प्रस्तुत कथा में मनु की कैलाश-स्थित मानसरोवर यात्रा का वर्णन है जहाँ पहुँच कर मनु के समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं। रूपक को हटाकर, यह मन का समरसता की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न है जिसके उपरान्त मन के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक क्लेश नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्णानन्द-लीन हो जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में यह मनोमय कोश में स्थित जीव की आनन्दमय कोश में स्थित होने के लिए साधना है। यह आनन्दमय कोश पिंडांड-रूप पर्वत का उच्चतम शिखर कैलाश है। कामायनी की रचना के समय यह वैदिक रूपक स्पष्टतः प्रसाद जी के मन में विद्यमान था।

अपने प्रकृत रूप में मनु एकान्त मननशील तथा अहंकारी हैं। वे अहंकारमय निष्क्रिय चिंतन-मनन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। ज्यों ही काम की प्रेरणा से काम और रति की पुत्री श्रद्धा से मनु का संयोग होता है,

उनमें जीवन के प्रति आकर्षण तथा स्फूर्ति का उदय होता है। श्रद्धा के साह-चर्य से मनु के अहंकार का सम्मार्जन होता है—वह 'स्व' से 'पर' की ओर बढ़ता है। बीच-बीच में उनका अहंकार उभरता है और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक आकुलि-किलात की सहायता से वे पशु-यज्ञ कर सोमरस की प्राप्ति करते है। परन्तु श्रद्धा उसका तीव्र विरोध करती है, और कम-से-कम कुछ समय के लिए उन्हें उसका अनौचित्य स्वीकार करने के लिए बाध्य करती हैं। इस प्रकार जब तक मनु श्रद्धा के प्रभाव में रहते है उनके अहं का संस्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नही रहती; मनु का अहं-कार फिर प्रबल हो जाता है :

यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूँ बन एक तत्व॥

और वे श्रद्धा से विरत होकर फिर अपने में खो जाते हैं। श्रद्धा से विमुख होने पर मनु की वृत्तियाँ पुन: अस्त-व्यस्त हो जाती हैं और वे जीवन-पथ पर भटकते हुए सारस्वत प्रदेश पहुंचते हैं। सारस्वत प्रदेश जीव के निम्नतर कोश—प्राणमय कोश का प्रतीक है। यहाँ उनका साक्षात्कार इड़ा से होता है जो उन्हे बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है :

जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर नर किसकी शरण जाय!

... ...

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।

इड़ा के प्रभाव में मनु बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनों को एकत्र कर शासन-व्यवस्था करते हैं—कर्म-विभाजन होता है, जीवन में भौतिक संघर्ष का सूत्रपात होता है। मनु इन सबके नियामक हैं परन्तु मनु का अहंकार इतने से संतुष्ट नहीं होता—इड़ा पर भी तो उनका अधिकार होना चाहिए! वे उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं—परन्त यहाँ उन्हें घोर विफलता होती है। इस अनधिकार चेष्टा से वे रुद्र के कोप-भाजन बनते हैं। एक बार फिर प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, मनु का विद्रोही प्रजा के साथ युद्ध होता है जिसमें मनु की पराजय होती है।

इसका संकेत-अर्थ यह हुआ कि मन अपने प्रकृत रूप में केवल मननशील

तथा अहंकारी है। श्रद्धावान होकर ही, और श्रद्धा का उदय मन में राग-वृत्ति के प्राधान्य के कारण ही सम्भव है, उसका उचित दिशा में विकास-संस्कार होना है। श्रद्धा विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति का नाम है। 'श्रद्धा-समवेत' मन मे अपने प्रति विश्वास और जीवन के प्रति राग का उदय होता है। यों समय-समय पर उसके आसुरी संस्कार निश्चय ही उभरेंगे—उसका सहज भोगवाद ऊपर आयेगा परन्तु जब तक वह श्रद्धावान है तब तक इन पर नियंत्रण रहेगा और उसके अहं का संस्कार होता रहेगा। परन्तु ज्यों ही मन श्रद्धा को त्याग देगा वह नीचे प्राणमय कोश में पहुंच जायेगा और बुद्धि के चक्र में पड़ जायेगा। बुद्धि व्यवसायात्मिका वृत्ति है—वह उसको संघर्ष की निरंतर प्रेरणा तो दे सकती है परन्तु सुख नहीं दे सकती। अहंकार का संस्कार करने के स्थान पर वह उसे और भी उत्तेजित करती है—अंत में एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने के लिए लालायित हो उठता है। यहाँ उसका पूर्ण पराभव होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय हो जाती है।

इस पराभव के उपरांत मनु को बड़ी ग्लानि होती है। इतने में ही श्रद्धा के साथ उनका फिर संयोग होता हैं। श्रद्धा उन्हें ग्लानि और क्लेश का परित्याग कर फिर से कर्मशील होने के लिए उत्साहित करती है। इसी बीच में उसका साक्षात्कार इड़ा से होता है। वह पहले तो अति-बुद्धिवादी होने के लिए इड़ा की भर्त्सना करती है—अंत में उसे क्षमा कर अपने पुत्र कुमार को उसे सौंप देती है और आप मनु को साथ लेकर चल देती हैं। मनु और श्रद्धा दोनों हिमालय के शिखरों पर चढ़ते-चढ़ते एक ऐसे स्थान पर पहुंचते हैं जहाँ से त्रिदिक् विश्व के तीन पृथक् ज्योतिष्पिंड उन्हें दिखाई पड़ते हैं। श्रद्धा मनु को इनका रहस्य समझाती है—"ये तीन ज्योतिष्पिंड भाव-लोक, कर्म-लोक और ज्ञान-लोक हैं। इनके पार्थक्य के कारण संसार में विडम्बना फैली हुई है।" ऐसा कहते-कहते श्रद्धा की मुस्कान ज्योति-रेखा बनकर इन तीनों लोकों में दौड़ जाती है—तीनों लोक मिलकर एक हो जाते हैं, और बस फिर मनु के मन के क्लेश और विश्व की सारी विडम्वनाओं का अंत हो जाता है। श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनंद-लीन हो जाते हैं।

इसका प्रतीकार्थ इस प्रकार है—सुखवाद और बुद्धिवाद के अतिचार के फलस्वरूप मन का पूर्णतः पराभूत होना स्वाभाविक ही था। इससे मन को भयंकर ग्लानि और निर्वेद होता है और वह फिर जीवन से पलायन करता है। इस स्थिति से श्रद्धा ही उसका निस्तार करती है। श्रद्धा-संयुत मन फिर उचित

दिशा की ओर विकासशील होता है और एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहाँ उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। श्रद्धा की प्रेरणा से उसे अपने पराभव का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी विडम्बनाओं का एकमात्र रहस्य यह है कि उसकी तीनों मूल वृत्तियों में सामजस्य नहीं है। उसकी भाव-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति और कर्म-वृत्ति (to feel, to know, to will) तीनों ही एक-दूसरे से पृथक् रह कर क्रियाशील है। ज्यों ही श्रद्धा के द्वारा इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य हो जाता है मन समरसता की अवस्था प्राप्त कर पूर्णानन्द में लीन हो जाता है। यह आनन्द शैव योगी का आत्मानन्द है जो अपने भीतर आत्म-साक्षात्कार द्वारा प्राप्त होता है, सगुण भक्त का आनन्द नही हैं जो चराचर में व्याप्त प्रभु के दर्शन कर प्राप्त होता है। श्रद्धा द्वारा अपने पुत्र कुमार का इड़ा को सौंपना भी इसी सामंजस्य का प्रतीक है। मनु और श्रद्धा का आत्मज होने के कारण मानव जन्मतः मननशीलता और श्रद्धा से युक्त है। इड़ा का निरीक्षण उसके बुद्धि-तत्व को भी परिपक्व कर मानवत्व को पूर्ण कर देता है।

साधारणतः कथा का अन्त यहीं होना चाहिए था। परन्तु इस प्रकार इड़ा, कुमार और सारस्वत-प्रदेश-वासियों की कहानी अधूरी ही रह जाती। अतएव उसके पर्यवसान-रूप में इड़ा, कुमार और सारस्वत-प्रदेश-वासियों के भी मान-सरोवर जाने का वर्णन किया गया है जहाँ वे सोम-लता से मंडित वृषभ का उत्सर्ग कर मनु से सामरस्य की दीक्षा लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मूल कथा से इस प्रसंग का सहज सम्बन्ध नहीं हैं परन्तु संकेत अर्थ इसका भी सर्वथा स्पष्ट है और वह यह है कि समष्टि-रूप में भी मानव-जीवन की परिणति आनन्द में ही है। सोम-लता अर्थात् भोग और वृषभ अर्थात् धर्म (कर्म) का उत्सर्ग कर समरस मानव चिरानन्द-मग्न हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही रूपक है। प्रसाद जी ने कथा के मूल तत्वों को ऐतिहासिक मानते हुए उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में आरम्भ से अन्त तक वर्तमान था और मन के विकास का प्राचीन वैदिक रूपक उनको वैसे भी अत्यन्त प्रिय था।

परन्तु प्रसाद जी ने इसे सर्वथा प्राचीन रूप में ही ग्रहण नहीं किया। आधुनिक देश-काल का प्रभाव भी उस पर अत्यन्त व्यक्त है। मनु के जीवन की विडम्बना आधुनिक जीवन की विडम्बना है। इस विडम्बना का मूल कारण यह है कि आज हमारी भाव-वृत्ति अर्थात् संस्कृति जिसमें धर्म, नैतिकता और

कला-साहित्य आदि आते हैं; कर्म-वृत्ति अर्थात् राजनीति जिसके अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था आदि भी समाविष्ट है; और ज्ञान-वृत्ति अर्थात् दर्शन-विज्ञान तीनों एक-दूसरे से पृथक् हैं। उनमें सामंजस्य न होने से जीवन आन्तरिक और बाह्य संघर्षों और विषमताओं से आक्रान्त है। व्यक्तिवादी मनु आधुनिक जीवन के व्यक्ति-परक भौतिक सुखवाद का प्रतीक है जिसका व्यक्त रूप पूँजीवाद में मिलता है। वह इड़ा अर्थात् विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण सुखों को अपने में केन्द्रित करने का असफल प्रयत्न करता है। अन्त में वह अनुभव करता है कि श्रद्धा के बिना जीवन की विडम्बना का अन्त नहीं। यह श्रद्धा अर्थात् रागात्मक वृत्ति गांधी जी की अहिंसा और पाश्चात्य दार्शनिकों की मानव-भावना की पर्याय है। आज इसी मानव-भावना की प्रेरणा से ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा संस्कृति, विज्ञान और राजनीति में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। जब इन तीनों के पीछे मानव-भावना की सद्प्रेरणा रहेगी तो इनका समन्वय स्वतः ही हो जाएगा। आज के पूँजीवाद से पीड़ित समाज की विडम्बनाओं का समाधान यही मानववाद है जिसका भौतिक रूप समाजवाद और आध्यात्मिक रूप गांधीवाद है।

आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों ने भी आज की विषमताओं का यही समाधान बताया है। उनका निदान यह है कि इस युग का मानव अनेक प्रकार के सामाजिक-ऐतिहासिक तथा व्यक्त-अव्यक्त कारणों से स्वरति की भावना से आक्रांत है। स्वरति भयंकर रोग है जिसके कारण उसका मानसिक स्वास्थ्य सर्वथा नष्ट हो गया है। मानसिक स्वास्थ्य मन की भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के समन्वय का नाम है। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य के नष्ट होने का अर्थ यह है कि ये तीनों वृत्तियाँ पृथक् दिशाओं में क्रियाएँ कर रही हैं। इस सामंजस्य को पुनः प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि रति-भावना को 'स्व' से निकाल कर 'पर' की ओर प्रेरित किया जाये। यह उन्नयन-प्रक्रिया है। इसके पूर्ण हो जाने पर मन समरसता की अवस्था (Mental equilibrium) को प्राप्त कर लेता है। आज के मानव-जीवन की समस्या का यही समाधान है।

एक प्रश्न और रह जाता है। यह रूपक कहाँ तक संगत है? तो, जहाँ तक कि मूल कथा का सम्बन्ध है, रूपक सामान्यतः संगत और स्पष्ट है; उसमें कोई विशेष सैद्धान्तिक असंगति नहीं है। हाँ, कथा के सूक्ष्म अवयवों में संगति पूरी तरह नहीं बैठती। जब मनु मानव-मन अथवा मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक है तो उसके पुत्र कुमार को नव मानव का प्रतिनिधि मान कर

भी संगति नहीं बैठती क्योंकि इस तरह पिता-पुत्र में लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रसाद जी ने इस असंगति का अनुभव किया था, इसलिए आनन्द-लोक की यात्रा पर जाने से पूर्व श्रद्धा कुमार को छोड़ जाती है। इसी प्रकार सारस्वत-प्रदेश-वासियों के साथ इड़ा और कुमार का चिरानन्द-लीन मनु के पास वृषभ आदि का उत्सर्ग करने के लिए जाना भी अप्रस्तुतार्थ में एक पैबन्द जैसा ही है। इसकी सफ़ाई में दो कारण दिये जा सकते हैं। एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत कथा को पूरी तरह अप्रस्तुतार्थ में जकड़ देना ठीक नहीं है—आख़िर प्रस्तुत कथा को थोड़ा-सा तो स्वतन्त्र अवकाश देना ही चाहिए। दूसरा यह है कि कामायनी की कथा का विकास ही असंगतियों से भरा हुआ है; उसमें ही काफ़ी जोड़ लगे हुए हैं। अतएव उपर्युक्त असंगतियों का सम्बन्ध बहुत-कुछ कथा की असंगतियों से भी है। इनके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने दो तात्विक असंगतियों की ओर संकेत किया है। एक तो यह कि जब इड़ा की प्रेरणा से ही मनु कर्म-विस्तार करते है अर्थात् जब बुद्धि ही कर्म-व्यापार का कारण है तो ज्ञान-लोक से पृथक् कर्म-लोक का अस्तित्व किस प्रकार संगत हो सकता है? दूसरे रति और काम की दुहिता तथा मानव-करुणा, सहानुभूति आदि की समानार्थी होने के कारण श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है—उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भाव-लोक में ही नहीं वरन् भाव, कर्म, ज्ञान तीनों से ही परे कैसे हो सकती है? इनमें से पहली आपत्ति तो अधिक संगत नहीं है। वैसे तो मानव-मन इतना जटिल है कि उसकी सभी वृत्तियाँ परस्पर अनुस्यूत और गुम्फित हैं, फिर भी दर्शन तथा मनोविज्ञान में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही। भारतीय दर्शन में भक्ति, ज्ञान और कर्म मार्ग का पृथक् विवेचन प्रायः आरम्भ से ही होता आया है। इसलिए कर्म के पीछे बुद्धि की प्रेरणा होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इन दोनों में कोई तत्वगत पार्थक्य ही नहीं है।

श्रद्धा-विषयक आपत्ति अधिक गम्भीर है। साधारण दृष्टि से निस्संदेह ही श्रद्धा एक भाव है और भाव, ज्ञान, और क्रिया के पृथक् वर्णन के समय भाव से भिन्न उसका अस्तित्व वास्तव में समझ में नहीं आता। परन्तु प्रसाद जी ने कामायनी की सम्पूर्ण कथा की धुरी श्रद्धा को ही बनाया है। श्रद्धा का अर्थ है आस्तिक बुद्धि (भावना): **'आस्तिक-बुद्धि इति श्रद्धा।'** आस्तिकता का अर्थ है अस्तित्व में सहज आस्था; इस प्रकार आस्तिक-भावना जीवन की एकान्त मूलगत भावना है। इसी के द्वारा जीवन का संचालन होता है। प्रसाद जी ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद की श्रद्धा में राग-तत्व

की अत्यन्त प्रधानता है परन्तु यह स्वाभाविक है। अस्तित्व में सहज आस्
स्वभावतः ही राग-प्रधान होनी चाहिए; जीवन के प्रति सहज आस्था निस्सन्दे
ही रागमयी होनी चाहिए । परन्तु फिर भी तत्व-रूप में श्रद्धा कोरी भावुक
नही है - आस्तिक बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमें अस्तित्व की ती
अभिव्यक्तियों इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्थिति है। प्रसाद जी ने भी श्रद्धा को को
भावुकता के प्रतीक-रूप में चित्रित नही किया—वह वास्तव में जीवन की प्रेरण
की प्रतीक है। इसके विपरीत भाव-लोक कोरी भावुकता—इच्छा की रंगी
क्रीड़ाओं—का प्रतीक है; और स्पष्ट शब्दों में—भाव-लोक केवल इच्छा व
प्रतीक है और श्रद्धा जीवन के अस्तित्व में आस्था अर्थात् विश्वासयुक्त जीव
नेच्छा है ।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल ।

× × ×

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद ।

× × ×

एक तुम यह विस्तृत भू-खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द ।

पूर्व तथा पश्चिम के धर्म-शास्त्रों तथा दर्शनों में भी श्रद्धा की यही स्थि
स्वीकार की गई है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी के लिए श्रद्धा (फ़ेथ)
आधारभूत वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है; उसके बिना मोक्ष (परमा
नन्द) की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार श्रद्धा व
स्थिति वही है जो युंग-प्रतिपादित जीवन-चेतना की; जिसे कि उन्होंने जीवन व
मूलभूत वृत्ति माना है। स्वभावतः ही वह राग-वृत्ति (लिबिडो) से अधि
व्यापक है।

इसके अतिरिक्त वस्तु-रचना की दृष्टि से भी श्रद्धा की स्थिति का तीनों

स्वतन्त्र होना आवश्यक था। कामायनी की कथा का कार्य है त्रिपुर का एकीकरण जिसके उपरान्त मनु को आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है अर्थात् कथा-वस्तु के उद्देश्य की प्राप्ति होती है : इसी प्रकार अप्रस्तुत कथा का कार्य है भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति का समन्वय। इसके उपरान्त ही मन समरसता की स्थिति प्राप्त कर चिरानन्द-लीन हो जाता है और कथा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। वास्तु-कौशल की दृष्टि से यह कार्य मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए और मुख्य पात्र स्पष्टतः कामायनी अर्थात् श्रद्धा है। इस प्रकार शुक्लजी की इस दूसरी गम्भीर आपत्ति का भी निराकरण असम्भव नहीं है और इसमें सन्देह नहीं प्रसाद जी ने श्रद्धा की मनोवैज्ञानिक स्थिति की इन संगति-असंगतियों पर पूर्णतः विचार करने के उपरान्त ही उसको यह रूप दिया था। शुक्ल जी द्वारा उठाई गई शंका उनके मन में न उठी हो यह बात नहीं मानी जा सकती।

: दस :

कहानी और रेखाचित्र

"शैलू बाबू, कैसा लगा हमारा शनिवार समाज आपको ?"

—कार स्टार्ट करते हुए मैंने पूछा।

"मैं तो काफ़ी प्रभावित हुआ। पिछली बार मैंने कान्ता से पूछा था कि दिल्ली में साहित्यिक जीवन कैसा है तो उसने कहा था कि साहित्यकार तो यहाँ बुरे नहीं हैं, लेकिन साहित्यिक जीवन कोई ख़ास नहीं है। ले-देकर शनिवार समाज है, उसमें भी तू-तू मैं-मैं या हा-हा ही-ही रहती है। पर आज तो मैंने देखा कि यहाँ विचार-विमर्श का स्तर अच्छी-अच्छी शास्त्रीय परिषदों से ऊँचा रहता है।"

"हाँ"—कान्ता दो-तीन बार आई थी। उन दिनों सचमुच थोड़ी-सी शिथिलता आ गई थी, जो सदा अस्वाभाविक नहीं होती। रही हा-हा ही-ही की बात—वह तो आज भी थी ही और मेरा ख़याल है मर्यादा के भीतर सदा रहनी भी चाहिए। आख़िर यह कोई परीक्षा-भवन तो है नहीं और न यहाँ धार्मिक सत्संग ही होता है। वास्तव में शनिवार समाज दिल्ली के साहित्यिक जीवन की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम बन गया है। बीच-बीच में थोड़ा-सा शैथिल्य या मामूली-सी रगड़ भले ही पैदा हो जाए पर साधारणतः इसे प्रायः सभी का सद्भाव प्राप्त है। पहले चिरंजीत ने इसे ठीक बना रखा था और अब विष्णु जी ने जब से इसे फिर सँभाला है, तब से इसमें फिर जान आ गई है। विष्णु आदमी भले हैं और कुशल भी।

शैलेन्द्र मोहन जौहरी सैण्ट जॉन्स में मेरे सहपाठी थे; उस्मानिया यूनिवर्सिटी में ६ वर्ष अँग्रेज़ी के अध्यापक रहने के बाद हाल ही में टोरेन्टो से "सौन्दर्य शास्त्र" पर पी०-एच० डी० की डिग्री लेकर आये हैं। दिल्ली में अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ आये हुए थे। पिछले मे पिछले शनिवार की शाम को मेरे साथ थे। इस शर्त पर शनिवार समाज में मेरे साथ आये थे कि उनको अपरिचित दर्शक ही रहने दिया जाये। इसी लिये मुझ से कुछ थोड़ा हट कर कोने में बैठ गये थे और बिना बोले सब-कुछ चुप-चाप देखते-सुनते रहे थे। वैसे बड़े तेजस्वी

व्यक्ति हैं। हिन्दी और अँग्रेज़ी दोनों में ही थोड़ा-सा लिखा है, पर जो कुछ लिखा हैं उसमें चमक और वार दोनों हैं।

दिल्ली दरवाज़े पर एक महिला को उतारने के बाद मैंने फिर बातचीत का क्रम जारी रखते हुए कहा : "आज का विषय ज़रा दुरूह-सा था। तुम्हारा क्या ख्याल है ? तुम्हें किसकी बात ज्यादा जँची ?" मेरे इस वाक्य को सुनकर ऐसा लगा जैसे उनकी मौलिकता पर कोई चोट लगी हो, हालाँकि मेरा यह मतलब बिल्कुल नहीं था। बोले—'आई कैन थिंक फ़ार माई सैल्फ : लेकिन फिर भी आज सभी के विचारों में पर्याप्त तथ्य था। आपके यहाँ कोई रेकार्ड नहीं रखा जाता क्या ? मैं समझता हूँ आज की बहस को यदि लेख-बद्ध कर दिया जाए तो कहानी और रेखाचित्र के अन्तर पर अत्यन्त मौलिक निबन्ध बन सकता है।'

मैंने कहा : ऐसा कोई सांग विवरण हम लोग नहीं रखते। किन्तु आता मेरे मन में भी है कि इसे लेखबद्ध किया जाए।

शैलू बाबू बोले—अच्छा

शैलू बाबू ने शायद उसी रात को बैठ कर वह लेख लिख डाला और दो-तीन दिन बाद टाइप करा कर ले आये। मैंने भी चार-छः दिन में लिख डालने का वायदा किया, पर काम इतना आ पड़ा कि मैं न लिख पाया और शैलू बाबू पिछले सोमवार को चले गये। मै सोच रहा था आज तक तो अपना लेख तैयार कर ही दूँगा और दोनों को ही शनिवार समाज की बैठक में पढ़ दूँगा। परन्तु मैं तो आज भी रह गया। इस लिये अब आपके सामने अपने मित्र डा० शैलेन्द्र मोहन का लेख ही प्रस्तुत किये देता हूँ। अगली गोष्ठी में अपना लेख भी निश्चय ही ले आऊँगा।

× × × ×

"उस दिन भाई नगेन्द्र के साथ दिल्ली के शनिवार समाज म गया था। नगेन्द्र ने वादा कर लिया था कि मुझे अपरिचित ही रहने दिया जाएगा, फिर भी मैंने कुछ और सावधानी बरती और उनसे थोड़ी दूर कोने में चुपचाप बैठ गया। इससे मुझे दुगना लाभ हुआ। अनावश्यक परिचय के उपहास से बच गया और साथ ही ध्यानपूर्वक गोष्ठी के वार्तालाप को सुन सका जो शायद नगेन्द्र के पास बैठने से सर्वथा सम्भव नहीं था क्योंकि उनमें गम्भीरता और चंचलता का इतना अनमेल मिश्रण है कि दो-एक मिनट के अन्तर से ही वे गंभीर-से-गंभीर बात और फ़िज़ूल से फ़िज़ूल बकवास कर सकते है, क्लास में एकाध बार मुझे उनकी महरबानी से प्रोफेसर टंडन का अकारण ही कोप-भाजन बनना पड़ा था।

गोष्ठी में कुछ देर उस दिन के लेखक-वक्ता श्री० दर की प्रतीक्षा रही।

उनके आते ही लेख-पाठ आरम्भ हो गया। श्री० दर दुहरे बदन के स्वस्थ-प्रसन्न व्यक्ति थे। युवावस्था का उत्साह और आत्म-विश्वास तथा प्रौढ़ि का गाम्भीर्य उनमें था। थोड़ी-सी क्षमा-याचना के बाद उन्होंने अपना लेख आरम्भ किया। इस क्षमा-याचना के दो कारण थे। एक तो समयाभाव के कारण लेख जल्दी में लिखा गया था और दूसरे हिन्दी में—जिसे उन्होंने अभी थोड़े दिन से शुरू किया है। दोनों बातें ही ठीक थीं। लेख में—जल्दी के कारण निश्चय ही असम्बद्धता आ गई थी; दूसरे उसमें विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा वर्णन अधिक था। भाषा में उर्दू की चटक और चमक साफ़ ज़ाहिर थी, फिर भी हिन्दी के प्रति अत्यधिक सचेष्ट होने के कारण वह जगह-जगह कुछ गंभीर हो जाती थी और दर साहब को रवानी बनाये रखने के लिए प्रायः लहजे को और कभी-कभी अपने चेहरे और गर्दन को झोल देना पड़ता था। ख़ैर, यह तो मैं यों ही प्रसंगवश कह गया : दर साहब के लेख का प्रतिपाद्य अत्यंत स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त था, और इसका कारण यह था कि उन्होंने केवल बौद्धिक रूप से नहीं वरन् व्यावहारिक रूप से अर्थात् एक तटस्थ आलोचक की भाँति नहीं वरन् एक स्वतंत्र संलग्न कलाकार की दृष्टि से प्रश्न पर विचार किया था। उनका अभिमत था कि कहानी और रेखाचित्र में कोई मौलिक अंतर नहीं है। यह धारणा ग़लत है कि घटना की प्रधानता कहानी को रेखाचित्र से पृथक् करती है। कहानी के लिए घटना बिल्कुल अनिवार्य नहीं हैं, और इसके अतिरिक्त घटना केवल स्थूल और भौतिक ही हो यह भी ज़रूरी नहीं है, वह मानसिक भी हो सकती है। इसी प्रकार तथाकथित रेखाचित्रों में भी घटना का एकदम अभाव नहीं हो सकता। अगर आप कहें कि रेखाचित्र में चरित्र-अंकन की प्रधानता होती है, तो यह भी कहानी के क्षेत्र से बाहर की चीज़ नहीं है। इस लिये रेखाचित्र कहानी का ही एक रूप है। आज कहानी की परिभाषा इतनी व्यापक और उसकी रूप-रेखा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र नाम की चीज़ अपने सभी रूपों में उसके भीतर ही आ जाती है।

इसके बाद बहस में कुछ ख़ालीपन-सा आ गया। लोग एक-दूसरे से अपने विचार प्रकट करने के लिए आग्रह करने लगे। अंत में नगेन्द्र को ही बोलना पड़ा। नगेन्द्र में मैंने अब भी वही झिझक पाई जो आज से १८-१९ वर्ष पहले सैण्ट जॉन्स में थी। यद्यपि उन्होंने कुछ दो-चार पॉइन्ट लिख भी लिये थे, फिर भी वे जैसे कोई नियमित वक्तव्य देने से बच निकलने की कोशिश कर रहे थे। आखिर उन्होंने कहना शुरू किया : कहानी और रेखाचित्र में कोई आत्यन्तिक अन्तर करना कठिन है, फिर भी दोनों में अन्तर अवश्य है क्योंकि ये दोनों शब्द

आज भी बराबर प्रचलित हैं और इनका प्रयोग करने वाले इनके द्वारा एक ही अर्थ की व्यंजना नहीं करते। कहानी के विषय में तो किसी को विशेष भ्रांति होने की गुंजाइश नहीं है, रेखाचित्र के विषय में ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र चित्र-कला का शब्द है जैसा कि नाम से ही व्यक्त है। इसमें चित्रांकन का मूल आधार रेखाएँ होती है। ज्यामिति में रेखा की विशेषता यह है कि इसमें लम्बाई मात्र होती है, मोटाई-चौड़ाई आदि नहीं होती। अतएव अपने मूल रूप में रेखाचित्र में मोटाई-चौड़ाई अर्थात् मूर्त रूप और रंग आदि नहीं होते। उसमें आकार तो होता है, पर भराव नहीं होता इसी लिए उसे खाका भी कहते है। जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आई अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएँ हों पर मूर्त-रूप अर्थात् उतार-चढ़ाव—दूसरे शब्दों में, कथानक का उतार-चढ़ाव—आदि न हो, तथ्यों का उद्घाटन मात्र हो। पूर्व आयोजन अथवा आयोजित विकास न हो। रेखाचित्र में तथ्य खुलते जाते हैं, संयोजित नहीं होते हैं। कहानी के लिए घटना का होना जरूरी नहीं है, पर रेखाचित्र के लिये उसका न होना जरूरी है : घटना का भराव वह वहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विश्लेषण किसी प्रकार भी अवांछनीय नही हैं, परन्तु रेखाचित्र का वह प्रायः अनिवार्य साधन है।"—नगेन्द्र के वक्तव्य से लगता था उनके मन में कहानी और रेखाचित्र के सूक्ष्म अंतर की एक निश्चित धारणा अवश्य है और वह स्पष्ट भी है। थोड़ा सोचने पर वह मुझे, और मैं समझता हूँ कुछ और व्यक्तियों को भी, स्पष्ट हो गयी; पर उनका कहने का ढंग अच्छा नहीं था। उनका विचार स्पष्ट था पर उनके वाक्य एक दूसरे से लिपट जाते थे और वे हकलाने लगते थे। यह देखकर मुझे सैण्ट जॉन्स के अनेक दृश्य याद आ गये जब बहस के समय नगेन्द्र की कैफ़ियत रत्नाकर की गोपियों की जैसी हो जाती थी—'नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं, रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सौं'। मुझे याद है कि एक दिन वे गुरुवर प्रो० प्रकाशचन्द्र से भी लड़ पड़े थे, और महीनों उनके यहाँ नहीं गये थे।

उस दिन भी कई ऐसे व्यक्ति थे जिनको नगेन्द्र की बात उलझी-सी लगी। एक नौजवान उनसे उलझ भी पड़े। बोले—डाक्टर साहब, उदाहरण देकर अपना मन्तव्य स्पष्ट करें तो ठीक है। नगेन्द्र मन में उदाहरण सोचने लगे थे कि विष्णु जी ने महादेवी के रेखाचित्रों की ओर संकेत किया। नगेन्द्र बोले: "हाँ, 'अतीत के चल चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' दोनों ही रेखाचित्रों के संकलन

हैं। उधर प्रेमचन्द जी की अधिकांश कथा-कृतियाँ आत्माराम, मन्दिर, कफ़न आदि कहानियाँ हैं।" पर प्रश्नकर्ता इससे सन्तुष्ट नहीं हुए, उनका कहना था कि महादेवी की उपर्युक्त कृतियाँ रेखाचित्र नहीं हैं, संस्मरण (मेमोयर्स) हैं। परन्तु यह लोगों को मान्य नही हुआ। उस समय तो मुझे भी उनका तर्क कुछ बेमानी-सा लगा और इसका कारण शायद यह था कि अँग्रेज़ी का (मेमोयर्स) शब्द इस प्रसंग मे कुछ भ्रामक था। मेमोयर्स में ऐतिहासिकता प्रायः अनिवार्य-सी ही रहती है और महादेवी के चित्रों में निश्चय ही वह बात नहीं है। परन्तु प्रश्नकर्ता का तर्क सर्वथा असंगत नहीं था। महादेवी के वे चित्र प्रायः संस्मरण ही हैं। अन्तर इतना ही है कि उनके विषय प्रसिद्ध व्यक्ति न हो कर अपरिचित व्यक्ति हैं। लेकिन मेरी धारणा है कि संस्मरण और रेखाचित्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं है; कोई मौलिक अन्तर भी नही हैं। वास्तव में उनकी जाति एक ही है या यह कहिए कि संस्मरण रेखाचित्र का एक प्रकार मात्र है जिसमें एक व्यक्ति का चित्र होता है और वह व्यक्ति प्रायः वास्तविक होता है, काल्पनिक नही।

'मेमोयर्स' शब्द को लेकर एक और सज्जन सामने आये। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वे प्रो० बालकृष्ण थे जो बहुत दिनों तक इतिहास के अध्यापक रहने के बाद आजकल राष्ट्रपति के प्रेस-अटेशे हैं। उनका मत था कि मेमोयर एक अलग चीज है, वह इतिहास की वस्तु है, उसके लिये ऐतिहासिक अंक-संकलन का निश्चित आधार अनिवार्य है। रेखाचित्र के साथ उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। परन्तु प्रो० बालकृष्ण को नगेन्द्र की स्थापनाओं पर भी आपत्ति थी। उन्होंने कहा कि पूर्व-आयोजन तो रेखाचित्र के लिये भी उतना ही आवश्यक है जितना कहानी के लिए, अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि रेखाचित्र में केवल उद्घाटन मात्र होता है, यह अंतर सापेक्षिक है। मूलतः तो कोई भी कृति अनायोजित नही होती। दोनों में मात्रा का अंतर है। प्रो० बालकृष्ण ने अपने तर्क को और आगे बढ़ाते हुए कहा : अगर दोनों में आयोजन की मात्रा का ही अंतर है तब भी यह अंतर फ़ार्म या कलेवर के रूप-आकार का ही रहा, मूल आत्मा का नहीं। नगेन्द्र ने कहा : हाँ, बहुत-कुछ यह अंतर कलेवर का ही है यद्यपि कलेवर और आत्मा का एक-दूसरे से इतना सहज सम्बन्ध है कि इस विषय में सर्वथा ऐकान्तिक निर्देश नहीं किया जा सकता। परन्तु सामान्यतः कहानी और रेखाचित्र एक दूसरे के इतने निकट हैं कि दोनों का अंतर प्राणगत न होकर शरीरगत ही माना जा सकता है। पता नहीं प्रो० बालकृष्ण को यह मत कहाँ तक मान्य था, परन्तु उनकी धारणा इस विषय

में कुछ और ही थी। उनका कहना था कि रेखाचित्र में रेखाओं का आधार होता है, रंग आदि का नहीं। अतएव उनमें संकेत अर्थात् व्यंजना का प्राधान्य रहता है। रेखा रंग की अपेक्षा सूक्ष्म है—जैसे संकेत कथन की अपेक्षा। इस लिए रेखाचित्र और कहानी का मूल अन्तर यही है कि रेखाचित्र कहानी से सांकेतिक अधिक होता है। नगेन्द्र ने उनकी यह स्थापना नहीं मानी क्योंकि कहानी में भी उनके अनुसार अधिकाधिक सांकेतिकता हो सकती है और प्रायः होती है। वह कहती कम है पाठक के मन में संकेतों द्वारा संसर्ग-चित्र ही अधिक जगाती है।

इस प्रश्नोत्तर के उपरान्त एक और सज्जन श्री० तिवारी ने हलकी परन्तु विश्वस्त आवाज़ में कहा : 'भाई, अन्तर दोनों में एक ही है; कहानी गत्यात्मक होती है, रेखाचित्र स्थिर होता है।' इस पर जैनेन्द्र जी ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया—मानों अब तक के विचार-विनिमय में पहली बार तथ्य की बात कही गयी हो। परन्तु जैनेन्द्र जी के आशीर्वाद के बावजूद भी एक मित्र तिवारी जी से गत्यात्मक (Dynamic) और स्थिर या स्थित्यात्मक (Static) शब्दों की परिभाषा को लेकर उलझ पड़े। कुछ ही क्षणों में सभा में पारिभाषिक शब्दों का घटाटोप छा गया क्योंकि वादी-प्रतिवादी दोनों ही जाने-अनजाने पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। प्रहार और प्रतिरक्षा दोनों का ही साधन पारिभाषिक शब्द थे। परन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही और संयोजक महोदय ने इस तार्किक गत्यवरोध को भंग करने के लिये जैनेन्द्र जी से अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया। जैनेन्द्र जी से आरम्भ में भी आग्रह किया गया था परन्तु उस समय उन्होंने कहा था कि हमें कुछ कहना नहीं है। इस पर मुझे आश्चर्य भी हुआ था क्योंकि मैंने रेडियो पर उनके कई वक्तव्य सुने थे जिनमें प्रत्युत्पन्न मति का अच्छा निदर्शन था : इधर नगेन्द्र ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि इस प्रकार के तात्कालिक परिसंवादों में जैनेन्द्र जी की प्रतिभा विशेष रूप से निखर उठती है। इस बार जैनेन्द्र जी सहज स्वभाव से प्रस्तुत थे, मुझे लगा जैसे वे आरम्भ के नहीं उपसंहार अथवा यों कहिए वन्दना के नहीं आशीर्वचन के अभ्यस्त हों। जैनेन्द्र जी ने धीरे-धीरे बीच के शब्दों को—प्रायः विभक्तियों को—खींचकर उच्चारण करते हुए बोलना शुरू किया : हमको तो तिवारी जी की बात ठीक लगती है परन्तु पारिभाषिक शब्द परेशानी पैदा कर देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कहानी गतिमती होती है और रेखाचित्र स्थिर। कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू अधिक होता है; यदि रेखाचित्र में एक पहलू होता है तो कहानी में दो, और अगर रेखाचित्र में दो मानिए

तो कहानी में तीन : यानी अगर रेखाचित्र में सिर्फ़ लम्बाई ही है तो कहानी में लम्बाई के अतिरिक्त चौड़ाई भी होती है और अगर रेखाचित्र में लम्बाई और चौड़ाई होती है तो कहानी में मोटाई या गोलाई और माननी पड़ेगी। लेकिन यहाँ भी शब्दों की उलझन खड़ी हो गई। एक मिसाल देकर मैं अपनी बात और साफ़ कर दूँ। सिनेमा में जैसे क्लोज़-अप होता है यह तो रेखाचित्र हुआ जब कि एक चेहरा बड़ा होते-होते सारे स्क्रीन को ढक लेता है, और बाक़ी फ़िल्म कहानी हुई। जैनेन्द्र जी की बात अपने आप में साफ़ थी; वास्तव में उनकी धारणाएँ अपने आप में पर्याप्त स्पष्ट थीं, और यदि कुछ कहीं उलझन रह भी जाती थी तो वह उनकी वाणी में आते-आते सुलझ जाती थी। प्रायः लोगों के विचार वाणी से आगे दौड़ते हैं, जिसके कारण उनके शब्द उलझ जाते हैं। कुछ के विचारों और शब्दों में उचित संतुलन होता है परन्तु एक तीसरा वर्ग भी होता है जिसके विचार तो पैने होते ही है, उनकी वाणी उनसे भी ज़्यादा पैनी होती है जो उनके विचारों में और चमक पैदा कर देती है। जैनेन्द्र जी में यही बात है। उनकी डायमेन्शन वाली बात नगेन्द्र की ही बात का स्पष्टीकरण थी परन्तु अपने आप में वह नगेन्द्र के शब्दों से कहीं अधिक व्यंजक थी। फिर भी जैनेन्द्र जी को लगा कि जैसे उनकी बात का वांछित प्रभाव नहीं पड़ा। चारों ओर आँखें घुमाकर अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए बोले—रेखाचित्र अपनी स्थिरता में कुछ गतिहीन हो जाता है, वह शेष से कटकर अपने आप में स्वतन्त्र हो जाता है इस लिये उसमें रस और तीव्रता की कमी होती है। वह कुछ 'सैक्यूलर' होता है। जैनेन्द्र जी जिस शब्द के लिये काफ़ी देर से भटक रहे थे वह मानो उन्हें मिल गया था और उनका श्रोता को चौंका देने का उद्देश्य मानो पूरा हो गया था। इस लिये वे अनायास ही चुप होकर एक बार फिर इधर-उधर देखने लगे। 'सैक्यूलर' के इस विचित्र प्रयोग से मैं और मेरी तरह कुछ नए लोग वास्तव में चौंक गये लेकिन अधिकांश लोगों ने उसे हँस कर टाल दिया मानो वह कोई नई बात नहीं थी। सम्भव है ये लोग आचार्य विनोबा के वेदान्ती शब्द पर पहले ही चौंक लिये हों जिससे आज उसकी प्रति-ध्वनि का वार ख़ाली गया।

जैनेन्द्र जी की बात को लेकर एक और सदस्य श्री महावीर अधिकारी ने भी अपने विचार प्रकट किये। उनको क्लोज़-अप वाली बात अर्थात् रेखाचित्र में एक व्यक्ति-चित्र-विषयक स्थापना बहुत पसन्द आई और उसी पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि रेखाचित्र जहाँ एक व्यक्ति की तस्वीर सामने रखता है वहाँ कहानी व्यक्ति को समाज के संसर्ग में अंकित करती है—अतएव कहानी में

रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सामाजिकता होती है। मुझे ऐसा लगा कि अधि-कारी जी सामाजिकता आदि शब्दों पर जोर देकर बहस में कुछ प्रगतिशील रंग लाने की कोशिश कर रहे थे, पर विषय सर्वथा सैद्धान्तिक एवं पारिभाषिक था, इसलिये उन्हें कुछ गुंजायश नहीं मिली।

बहस यहाँ आकर समाप्त हो गई, और अंत में नियमानुसार आरम्भिक वक्ता श्री० दर से बहस का जवाब देने के लिये कहा गया। श्री० दर अब भी अपनी बात पर जमे हुए थे—उन्होंने प्रायः सभी विरोधी युक्तियों को अपने पक्ष में प्रयुक्त करते हुए फिर अपनी स्थापना को दृढ़ किया। उन्होंने कहा कि कहानी में तथ्य-उद्घाटन, विश्लेषण आदि सभी हो सकते हैं और होते हैं। उसमें दो डायमेन्शन भी होती है और तीन भी इसी तरह एक व्यक्ति-चित्र का होना उसके क्षेत्र से बाहर की चीज नहीं है; चरित्र-प्रधान कहानियों में प्रायः एक व्यक्ति-चित्र पर ही फ़ोकस रहता है। रेखाचित्र को कहानी से अलग नाम और रूप देने की कोशिश बेकार है।

× × × ×

घर जाकर सोचा कि देर करने से कदाचित् मन के चित्र इतने स्पष्ट न रहें इसलिये खाना-वाना खा कर ही लिखने बैठ गया। सब से पहले तो मिस्टर दर की स्थापना ही सामने आई। इसमें संदेह नहीं कि आज कहानी की परि-भाषा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र भी उसमें समा सकता है, फिर भी इन दोनों शब्दों का दो अर्थों में सप्रयोजन प्रयोग होता है। अतएव दोनों में अंतर अवश्य है। रेखाचित्र में दो डायमेन्शन होती है: एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की सम्बन्ध-रेखा, और दूसरी इस सम्बद्ध-रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है; उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक डायमेन्शन और बढ़ जाती है, यह अतिरिक्त डायमेन्शन विषय के अन्तर्गत होती है; कहानी का विषय एकात्मक नहीं रह सकता, उसमें द्वैत भाव होना चाहिये अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उसका अपने आप में होना कहानी के लिये काफ़ी नहीं है, कहानी में उसे दूसरे या दूसरों की सापेक्षता में कुछ करना होगा—प्रेम करना होगा, वैर करना होगा, सेवा करनी होगी, कुछ करना होगा; अपने में सिमट कर रह जाना काफ़ी नहीं होगा, अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिन्दु न होकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयो-जक रेखा होती है। यही एक अतिरिक्त डायमेन्शन है जो कहानी में बढ़ जाती

है। इसी रूप में आप चाहें तो उसे रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक कह लीजिए यद्यपि यह शब्द स्थिति को स्पष्ट न कर उसे उलझाता ही है क्योंकि उपर्युक्त अर्थ की व्यंजना यह सीधी नहीं करता। इसी लिये पाठक को लगता है कि कहानी म रेखाचित्र की अपेक्षा रस अधिक होता है क्योंकि द्वैत में निस्सन्देह ही अद्वैत की अपेक्षा अधिक रस है और अन्त में इसी लिये रेखाचित्र को पढ़-कर ऐसा लगता है जैसे बात अधूरी रह गई। उसमें जिज्ञासा की उद्‌बुद्धि मात्र होकर रह जाती है, इसके विपरीत कहानी में उसकी परितृप्ति हो जाती है क्योंकि जहाँ रेखाचित्र में 'मैं' और 'तू' रहते हैं—मैं अर्थात् मूलतः लेखक और परिणामतः पाठक और 'तू' अर्थात् विषय, वहाँ कहानी में 'मैं' 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है।

पल्लव की भूमिका हिन्दी में छायावाद-युग के आविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। छायावाद हिन्दी साहित्य का अत्यन्त समृद्ध युग है। वास्तव में भक्ति-काल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कर्ष और किसी युग में नहीं हुआ। इस दृष्टि से हमारे साहित्य में पल्लव की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि अँग्रेज़ी साहित्य में वर्ड्सवर्थ के लिरिकल बैलड्स की भूमिका का।

पल्लव के इस आरम्भिक वक्तव्य का वास्तविक नाम भूमिका न होकर 'प्रवेश' है जिसमें छोटे आकार के ५८ पृष्ठ हैं—प्रवेश से पूर्व छह पृष्ठ का एक छोटा-सा 'विज्ञापन' भी है। इसमें पंत जी ने पल्लव की कविताओं के कुछ विशेष तथ्यों का उल्लेख किया है: इन दोनों को पृथक् रखने का कारण यह है कि 'विज्ञापन' में विशेष की चर्चा है और 'प्रवेश' में सामान्य सिद्धान्त का निरूपण। फिर भी 'विज्ञापन' को पल्लव की भूमिका का ही भाग मानना चाहिए: उसमें भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकेत मिलता है जो सिद्धान्त के ही अंग हैं।

जैसा कि पंत जी ने स्वयं ही स्वीकार किया है, प्रस्तुत भूमिका में काव्य-कला के आभ्यन्तरिक रूप का विशेष विश्लेषण नहीं किया गया, उसके बाह्य रूप का ही विवेचन किया गया है। काव्य के बाह्य रूप के अन्तर्गत कवि ने मुख्य रूप से इन विषयों को ग्रहण किया है: १—आधुनिक हिन्दी काव्य की माध्यम भाषा: ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली २—काव्य-भाषा का स्वरूप—(क) पर्याय शब्दों का चमत्कार (ख) लिंग-निर्णय (ग) समास आदि ३—अलंकार ४—खड़ी बोली का संगीत और छन्द-विधान। आइए एक-एक कर इनका पर्यालोचन किया जाए।

ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली

आधुनिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा के प्रश्न को पंत जी ने सबसे अधिक उत्साह एवं उच्छ्वास के साथ ग्रहण किया है। उस समय हिन्दी साहित्य

में कदाचित् सबसे अधिक ज्वलंत विवाद का प्रश्न था ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली। काव्य की नवीन जागृति का अग्रदूत यह युवा कवि सन्नद्ध होकर उस विवाद में अवतीर्ण हुआ है। कहने की आवश्यकता नही कि पंत जी का निर्णय ब्रज-भाषा के विरुद्ध और खड़ी बोली के पक्ष में ही है : उन्होंने ब्रज-भाषा पर अनेक प्रबल प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए—

(१) ब्रज-भाषा का विकास एक कृत्रिम काव्य-भाषा के रूप में हुआ है। अतएव वह पुस्तकों की भाषा मात्र बनकर रह गई है। वह एक नव-जागृत राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। उसका शब्द-भाण्डार, अभिव्यंजना, और संगीत कृत्रिम है—पंत जी ने उसके सौन्दर्य की उपमा पुरानी छींट की चोली या पुराने फ़ैशन की मिस्सी से दी है।

(२) उसमें माधुर्य और सौन्दर्य तो है किन्तु व्यापकता और महाप्राणता नहीं है।

(३) ब्रज-भाषा की साहित्यिक परम्परा विलास-रुग्ण और संकीर्ण है—उसमें ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाती रही है।

(४) जब लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है, तब काव्य की भाषा ब्रज-भाषा कैसे हो सकती है ?

जो भाषा मुगलों के समृद्ध राज्य-काल में समस्त उत्तरापथ की राष्ट्र-भाषा रह चुकी हो, जिसमें सूर का सागर लहराता हो, जिसमें भगवान कृष्ण ने मचल-मचल कर माखन-रोटी माँगी हो उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव में अत्यन्त निर्मम हैं। फिर भी उनके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण है और उनके औचित्य पर विचार करना असंगत न होगा।

पंत जी का पहला आरोप यह है कि ब्रज-भाषा साज-सँवार कर गढ़ी हुई काव्य-भाषा मात्र है—वह काव्य-रूढ़ियों में ग्रस्त है, उसके उपकरण कृत्रिम हैं : अतएव वह जीवन्त राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। वास्तव में पंत जी के इस प्रहार का लक्ष्य रीतिकालीन ब्रज-भाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि रीति-युग में ब्रज-भाषा की इतनी प्रसाधना हुई थी—मसृणता और कांति की स्पृहा इतनी बलवती हो गई थी कि उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो गया : कोमलता और कमनीयता के लिए प्राणों के विराट तत्व और जीवन के विस्तार का उत्सर्ग कर दिया गया। देव, मतिराम और घनानन्द की भाषा में स्निग्धता ही है, महाप्राणता और ओज नहीं है—एक-रस माधुरी है अनेक रूप जीवनाभिव्यक्ति नहीं है। निरन्तर व्यवहार से जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार बनते रहते

हैं, इसी प्रकार भाषा के भी। आरम्भ से ही कोमल भावों और प्रगीत काव्य-रूपों का माध्यम होने के कारण ब्रज-भाषा के भी अपने संस्कार बन गये हैं जिनमें निश्चय ही ओज की अपेक्षा सौकुमार्य का प्राधान्य है। अतः ब्रज-भाषा पर यह आरोप तो बहुत अंशों में ठीक है कि वह जीवन के आनन्द-पक्ष के ही अधिक अनुकूल है, संघर्ष-पक्ष के नहीं। परन्तु इस तथ्य को भी बहुत दूर तक नहीं घसीटना चाहिए—संस्कारों का प्रभाव निश्चय ही गहरा होता है किन्तु उनमें भी शिक्षा और अभ्यास से परिवर्तन-परिशोधन संभव है—और फिर भाषा का, विशेषकर काव्य-भाषा का आधार वस्तुगत की अपेक्षा व्यक्तिगत या भावगत ही अधिक मानना चाहिए। शब्द तो प्रतीक मात्र हैं। उसका वस्तु-आधार है अवश्य : अर्थात् उसके नादात्मक रूप का महत्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्व तो उसमें निहित धारणा या भावना का है जिसका कि वह वाहक है। इसलिए किसी भाषा को जीवन के केवल एक ही पक्ष के साथ बाँध देना सर्वथा मनोवैज्ञानिक नहीं है। ब्रज-भाषा के संस्कार मधुर अवश्य है—वह प्रगल्भा की अपेक्षा मुग्धा ही अधिक है : वह इतनी कोमलमना है कि 'प्रिय' में से भी रेफ निकाल कर उसे अपने होठों की मिठास में घोल कर 'पिय' बना देती है। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर मूँछों पर हाथ फिरवाने की शक्ति भी उसमें आ ही जाती है—और यदि परिस्थितियाँ इस प्रकार की होतीं तो उसकी ऊर्जस्विनी शक्तियों का विकास भी हो सकता था : जैसे कि खड़ी बोली का हुआ। राम-चरित उपाध्याय की खड़ी बोली अन्त में पंत की समृद्ध भाषा बन गई। अतएव हमारा मत यही है कि इसमें संदेह नहीं ब्रज-भाषा जीवन के सुकुमार पक्ष के अधिक अनुकूल है, परन्तु उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम वह बन ही नहीं सकती, यह कहना अनुचित होगा। इसके आगे कृत्रिमता का आरोप और भी गंभीर तथा अनुचित है—पंत जी का आशय यह है कि ब्रज-भाषा में पर्याप्त वक्रता और वैदग्ध्य का अभाव है, उसमें लक्षणा और व्यंजना की वे विभूतियाँ नहीं हैं जिनका विकास वे स्वयं तथा उनके सहयोगी कवि खड़ी बोली में कर रहे थे। इसमें तो सन्देह नहीं कि ब्रज-भाषा के रीति-कवियों का जितना आग्रह मसृणता और कान्ति के प्रति था, उतना वक्रता एवं वैदग्ध्य, अथवा भाषा की लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्तियों के विकास के प्रति नहीं था, परन्तु रीति-युग के उस रसात्मक काव्य में वक्रता का उतना अभाव नहीं है जितना पंत जी अथवा अन्य छायावादी कवि-आलोचक समझते थे। उस समय तक वास्तव में रीति-काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन नहीं हुआ था—परन्तु उसके बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा घनानन्द की अभिव्यंजना का और प्रस्तुत लेखक द्वारा देव की

अभिव्यंजना का विश्लेषण इस बात का साक्षी है कि इस काव्य में भी पूर्वोक्त काव्य-गुणों का दुष्काल नहीं है : उनका उद्घाटन नहीं हो पाया है। बिहारी, देव, घनानन्द, पद्माकर आदि कवियों में राशि-राशि वक्र प्रयोग मिलेंगे :

१. अंग अंग मदन विहंगम जगतु है —(देव)

२. पावस ते उठि कीजिए चैत अमावस ते उठि कीजिए पूनो—(देव)

३. अरसाइ गई वह बानि कछू······ —(घनानन्द)

इसके अतिरिक्त सूर की ब्रज-भाषा में तो वक्रता का वैचित्र्य अपूर्व है—भ्रमर गीत का प्रत्येक पद वक्रता के सौन्दर्य से दीपित है। अतएव यहाँ भी वस्तु-स्थिति यही है कि ब्रज-भाषा में न तो वक्रता और नवीन वैचित्र्य-उत्कर्ष का उतना अभाव है और न उसकी प्रकृति लाक्षणिक शक्तियों के विकास के प्रतिकूल ही है—उसकी भी लाक्षणिक और व्यंजनात्मक विभूतियों का विकास सहज सम्भाव्य था। रहा कृत्रिमता का प्रश्न, तो यह ठीक ही है कि रीति-युग के अथवा कृष्ण काव्य के भी हीन-प्रतिभ कवियों की काव्य-भाषा रूढ़ि-ग्रस्त तथा कृत्रिम है, परन्तु कृत्रिमता अथवा रूढ़ता किसी भाषा-विशेष का सहजात दोष नहीं हैं : सृजन-स्फूर्ति मंद पड़ जाने पर प्रत्येक भाषा कृत्रिम और रूढ़ि-ग्रस्त हो जाती है। स्वयं छायावाद की भाषा पर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियों ने कृत्रिमता का ठीक यही आरोप लगाया है। प्राणों के राग के अभाव में यदि पुराने फ़ैशन की मिस्सी आकर्षण खो बैठती है तो नये फ़ैशन की लिपस्टिक को देख कर भी उबकाई आने लगती है। अतः कृत्रिमता भाषा का दोष नहीं है, प्रयोक्ता और उसके प्रयोग का दोष है।

यही तर्क इस तीसरे आरोप के विरुद्ध दिया जा सकता है कि ब्रज-भाषा का काव्य विलास-रुग्ण है। विलास-रुग्ण भाषा नहीं हो सकती : सूर सागर और विनय-पत्रिका की पवित्र भाषा का उपमान मिलना दुर्लभ है, विलास-रुग्ण तो व्यक्ति और परिस्थितियाँ ही होती हैं : प्राणों का रस सूख जाने पर जैसे भारतीय जीवन विलास-जर्जर हो गया था, वैसे ही भारतीय काव्य भी। और फिर, इस युग में भी जिन कवियों की प्राणधारा प्रवहमान थी, उनके शृंगार-काव्य में भी जीवन की ताज़गी और आनन्द-स्फूर्ति वर्तमान है।

पंत जी की चौथी युक्ति वास्तव में न्याय-संगत है और युग-चेता कवि की प्रबुद्ध मनीषा का प्रमाण है : वह तर्क यह है कि लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा और काव्य-भाषा में प्रकृतिगत भेद नहीं होना चाहिए। यों तो गद्य तथा व्यवहार की भाषा से 'काव्य-भाषा' का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता है—अँग्रेज़ी में वर्ड्सवर्थ और हिन्दी में द्विवेदी जी आदि के प्रयत्नों की असफलता इस

ज्वलंत मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रमाण है, परन्तु यह भेद रूप में ही होना चाहिए : प्रकृति तथा प्रकार में नहीं । लोक-व्यवहार और गद्य-साहित्य के लिए खड़ी बोली की स्वीकृति मिल जाने के उपरांत काव्य-भाषा के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं था । विचार और राग की भाषा की जाति एक ही होनी चाहिए । उनमें जाति-गत भेद होने से जीवन की साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक विचित्र विषमता उत्पन्न हो जाती है । एक और दृष्टि से भी ब्रज-भाषा का त्याग श्रेयस्कर हुआ—आज हिन्दी में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश अथवा निर्माण निरंतर किया जा रहा है : राष्ट्र-भाषा के विकास का सबसे ऋजु-सरल मार्ग यही है । ब्रज-भाषा की प्रकृति में तत्सम शब्दों का घुलमिल जाना उतना सहज न होता जितना खड़ी बोली में है : ब्रज-भाषा की प्रकृति तत्सम तथा समस्त शब्दावली के विरुद्ध विद्रोह करती और राष्ट्र-भाषा का विकास-पथ अवरुद्ध हो जाता । अतएव ब्रज-भाषा का परित्याग राष्ट्र-भाषा के हित में ही हुआ, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ब्रज-भाषा के काव्य-गुणों का तिरस्कार उचित नहीं था । पल्लव में पंत जी के आक्रोश से हमें यही शिकायत है । किन्तु, जैसा कि हमने आरम्भ में ही कहा है, पल्लव की भूमिका एक युग-प्रवर्तक भूमिका है, अतएव इस आक्रोश के पीछे स्वभावतः ही युग-प्रवर्तन का उत्साह है, संतुलित पर्यालोचन का नीर-क्षीर विवेचन नहीं ।

काव्य-भाषा

ब्रज-भाषा का विवेचन करते हुए—उसी प्रसंग में काव्य-भाषा का सामान्य विवेचन भी संक्षेप में किया गया है । काव्य-भाषा का मूल आधार भाव और भाषा का सामंजस्य है : "जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के बटु-समुदाय ही दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सान-ध्वनि करते सुनाई देते हैं ।" सामंजस्य के अतिरिक्त काव्य-भाषा की दूसरी विशेषता है चित्रात्मकता—"कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र चित्र में झंकार हों ।"—इस दूसरी विशेषता में ही शास्त्रीय शब्दावली में, काव्य-भाषा की व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों का विकास निहित है । आगे चलकर इसी संदर्भ में पंत जी ने पर्याय शब्दों की

व्यंजना-शक्ति का मार्मिक विवेचन किया है। हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास म वह अभूतपूर्व घटना थी। भाषा के मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी दो शब्द सर्वथा एक ही अर्थ को प्रकट नहीं करते—व्याकरण भी यही कहता है। अतएव "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं।" पर्याय वास्तव में भाषा की व्यंजना-शक्ति का अत्यंत समर्थ उपकरण है—संस्कृत के ह्रास-काल तथा रीति-युग में आकर जब शब्द के अर्थ-चित्र के स्थान पर संगीत का मूल्य बढ़ गया तो पर्याय शब्दों का यह सुन्दर रहस्य भी विस्मृत हो गया। परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए यह अज्ञात नहीं था; आनन्दवर्धन पर्याय-ध्वनि और कुंतक पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत इसका मार्मिक विश्लेषण कर चुके हैं। पंत जी ने पाश्चात्य काव्य के मनन तथा अपनी अंतर्दर्शी प्रतिभा के द्वारा पर्याय-सौन्दर्य के उद्घाटन में अद्भुत मर्मज्ञता का परिचय दिया है: उन्होंने मर्मज्ञ प्रज्ञा के साथ कवि-कल्पना का संयोग कर इस प्रसंग को आलोकित कर दिया है। उदाहरण के लिए लहर के पर्याय शब्दों का विश्लेषण लीजिए: "ऐसे ही हिलोर में उठान······का आभास मिलता है।" (पृ० २५)। इस विषय में पंत जी का अभिमत है कि संस्कृत की पर्याय-कल्पना से अँग्रेजी की पर्याय-कल्पना अधिक सार्थक तथा वैज्ञानिक है। उनका निष्कर्ष है कि संस्कृत में पर्याय-शब्दों का प्राचुर्य वर्ण-वृत्तों की आवश्यकता की पूर्ति का साधन है—भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्छनाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने का साधन नहीं है—जैसा कि अँग्रेजी में है। यह धारणा अशुद्ध है--वास्तव में किशोर कवि के मन पर उन दिनों विदेश का जादू चढ़ कर बोल रहा था, अतः वह भारतीय उपकरणों का उचित मूल्यांकन नही कर सका। संस्कृत की जैसी निर्माण-क्षमता और अभिव्यंजकता किसी अन्य भाषा में नहीं है—अँग्रेजी में तो फ्रेंच आदि से भी कम है।

काव्य-भाषा के प्रसंग में पंत जी ने हिन्दी में लिंग-निर्णय और समास-प्रयोग पर भी विचार प्रकट किये हैं: उनका मत है कि लिंग का निर्णय शब्द के अर्थ के अनुसार होना चाहिए—अकारान्त-इकारान्त के अनुसार नहीं। जिस वाच्य में कोमलता, लघुता आदि स्त्रियोचित गुण है उसे स्त्रीलिंग और जिसमें परुषता, आकार आदि पुरुषोचित गुण हों उसे पुल्लिग मानना चाहिए। 'लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य' अनिवार्य है; "अन्यथा शब्दों का ठीक-ठीक चित्र सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित-सी हो जाती है।" —इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के लिंग-निर्णय के मूल में जो धारणाएँ प्रच्छन्न अथवा प्रकट रूप से वर्तमान हैं, उनमें एक प्रमुख धारणा

'लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य' भी है। परन्तु इसका सार्वभौम प्रयोग नहीं हो सकता---एक तो यह धारणा स्वयं ही अत्यंत भाव-परक है क्योंकि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आरोप मूलतः भावना का ही विषय है, दूसरे लोक-व्यवहार की सत्ता का उल्लंघन भी सरल नहीं है। पंत जी के अपने प्रयोग ही सफल नहीं हुए : प्रभात को वे स्त्रीलिंग नही बना सके और अंत में उनको अपनी धारणा में ही परिशोधन करना पड़ा। फिर भी आज से तीस वर्ष पूर्व नवयुवा कवि के ये विचार अत्यंत प्रौढ़ और क्रांतदर्शी थे, इसमें सन्देह नही और आज भी यदि हिन्दी के लिंग को विवेक-सम्मत आधार देना है तो अर्थ और लिंग का यह सामंजस्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दी के लिए पंत जी एक ओर समास को और दूसरी ओर पूरक क्रिया 'है'को त्याज्य मानते हैं। समास की वर्जना तो अन्य मनीषियों ने भी उनसे पहले और बाद में की है, परन्तु "है" का बहिष्कार कुछ विचित्र-सा था : उसके बिना प्रस्तुत भूमिका के अनेक वाक्य अजीब से लगते हैं और परिणाम यह हुआ कि स्वयं पंत जी ने 'गद्य-पथ' में आकर सर्वत्र 'है' जोड़ दिया है। यद्यपि 'है' पर कवि का प्रकोप साधारणतः हमारी समझ मे नही आता, परन्तु यह विचार सर्वथा अनर्गल नही था। खड़ी बोली का रूप इतना विश्लेषात्मक है कि उसे काव्य-भाषा के साँचे में ढालने के लिए निश्चय ही प्रवर्तक कवियों को कठिन श्रम करना पड़ा है; समास-गुण, काव्य-भाषा का अनिवार्य लक्षण है---और पूरक क्रियाएँ तथा अन्य पूरक पद लगाने से उसमें निश्चय ही शैथिल्य आ जाता है---द्विवेदी-युग के कवियों की आरम्भिक भाषा इसका प्रमाण है। इसी शैथिल्य से खीझकर अनगढ़ खड़ी बोली को काव्य-रूपों में ढालते हुए कलाकार कवि ने बँगला तथा अन्य भाषाओं से प्रेरणा लेकर यह प्रस्ताव रखा था। लोकमत इस सम्बन्ध में भी इतना प्रबल था कि पंत जी का प्रयत्न बुरी तरह विफल हुआ, परन्तु फिर भी उनकी सदाशयता की दाद देनी ही चाहिए।

अलंकार

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है। वे वाणी के हास-अश्रु, स्वप्न-पुलक हाव-भाव हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि १. अलंकार अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग हैं--- वे ऊपर से धारण किये हुए आभूषण नहीं हैं, २. और इस रूप में भी वे साधन मात्र है, उनकी स्वतंत्र सत्ता भी नही है, साध्य होने का तो प्रश्न ही नही उठता : अलंकार जहाँ अंग से अंगी हुए वहीं अराजकता फैल जाती है। यह स्थिति

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और भारतीय अलंकारवाद की मध्यवर्ती है। पंत जी क्रोचे की भाँति अलंकार को अलंकार्य से अभिन्न तो नहीं मानते हैं—उस रूप में तो अलंकार का अस्तित्व ही मिट जाता है, परन्तु वे उसकी स्वतंत्र सत्ता के समर्थक नहीं हैं। वास्तव में यही दृष्टिकोण संगत भी है—इसमें दोनों प्रकार का अतिवाद बच जाता है। इसके अतिरिक्त पंत जी अलंकारों की संख्या निश्चित करने के विरुद्ध हैं; अलंकार वास्तव में भाषा का भाव-प्रेरित वक्र प्रयोग है और ऐसे प्रयोगों को संख्या में बाँधना सम्भव नहीं है।

छन्द-विधान

प्रस्तुत भूमिका का सबसे मार्मिक अंश छंद-विवेचन है। उस समय जबकि छंद-विचार वर्ण, मात्रा की गणना तथा यति, गति आदि से आगे नहीं जाता था, पंत जी ने छन्द के मनोविज्ञान का सूक्ष्म-सरस विश्लेषण किया है। छंद के प्रकरण में पंत की मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

१. कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है—कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है।

२. छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ गहरा सम्बन्ध है। संस्कृत का संगीत भाषा की संश्लेषात्मक प्रकृति के कारण शृंखलाकार मेखला-कार हो गया है—वह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है। हिन्दी की प्रकृति विश्लेषात्मक है, अतएव उसका संगीत लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है।

३. अतएव संस्कृत का संगीत व्यंजन-प्रधान है, और वर्ण-वृत्त उसके सहज वाहन हैं। हिन्दी का संगीत स्वर-प्रधान है जिसके सहज माध्यम हैं मात्रिक वृत्त। इस दृष्टि से रीति-कवियों के प्रिय छंद सवैया और कवित्त हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से एक प्रकार की जड़ता तथा एकस्वरता आजाती है और राग का वैचित्र्य नष्ट हो जाता है। कवित्त में राग शब्द -प्रधान हो जाता है, वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का प्रभाव रुक जाता है जिसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ती है।

४. तुक राग का हृदय है—राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानों अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती हैं। तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी भावना का आधार-स्वरूप हो। अतुकान्त छन्द में दिन की कर्म-व्यस्त अनवरत गति है और तुकान्त में प्रभात तथा सन्ध्या का विराम-युक्त संतुलित पर्यटन।

५. मुक्त छन्द का आधार लय है : वह आन्तरिक ऐक्य अर्थात् भाव-साम्य पर अवलम्बित है। इस प्रकार की कविता में अंगों की गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अन्य छन्दों की तरह हिन्दी में मुक्त काव्य भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।

ये विचार निश्चय ही छंद के गंभीर मर्म-ज्ञान के परिचायक हैं : युवा कवि ने भाषा और छन्द की आत्मा में पैठ कर उनके मूलवर्ती रहस्यों का उद्घाटन किया है। तुक का विवेचन हिन्दी में बहुत कम हुआ है—आज भी इस उपेक्षित किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु के विवेचन के लिए रीति-युग के आचार्य दास की प्रशंसा की जाती है। किन्तु दास ने जहाँ उसके बाह्य रूप और स्थूल भेदों की ही चर्चा की है, वहाँ पंत जी ने पहली बार हिन्दी में तुक के मर्म का विश्लेषण किया है : "तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गूँथी भावना का आधार-स्वरूप हो।" —इस मार्मिक तथ्य को उस समय कितने तुक्कड़ कवि और पिंगलाचार्य समझते थे ? परन्तु फिर भी पंत जी के सभी विचार अतर्क्य नहीं हैं, कुछ तो निश्चय ही अमान्य हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी की प्रकृति विश्लेषात्मक है, परन्तु पंत जी अपने कोमल स्वभाव के आग्रह से इस तथ्य को बहुत दूर तक घसीट ले गये हैं और उनके कुछ निष्कर्ष अत्यंत एकांगी हो गये हैं : उदाहरण के लिए उनका यह निष्कर्ष कि हिन्दी के संगीत का मूल आधार स्वर है व्यंजन नहीं है, उनकी अपनी गीति-प्रतिभा की अभिव्यक्ति में तो निश्चय ही सहायक हुआ है किन्तु उनके काव्य में उदात्त और विराट तत्व का अभाव भी बहुत कुछ इसी का परिणाम है\: व्यक्तित्व की बलिष्ठता के लिए केवल रक्तवाही स्नायु ही पर्याप्त नहीं हैं, दृढ अस्थि-जाल और पुष्ट मांस-पेशियाँ भी उतनी ही आवश्यक हैं। पंत-काव्य का विवेचन करते समय मेरे मन में अनेक बार यह बात आई है कि 'जहाँ आन्तरिक भाव-चित्र विराट हैं वहाँ भी उसका मूर्ताकार विराट नहीं हो पाया' : 'सन् १९४०' नामक कविता मेरे कथन को पुष्ट करेगी। इसका एक कारण यह धारणा भी है कि हिन्दी के संगीत का मूल आधार स्वर है, व्यंजन नहीं। मुक्त छन्द तो केवल स्वर के आधार पर अपनी गरिमा का विकास कर ही नहीं सकता। निराला और पंत के मुक्त छन्दों का अंतर इसका प्रमाण है। वास्तव में संगीत की गरिमा स्वर और व्यंजन दोनों की मैत्री पर ही निर्भर है—उनकी ऊर्जस्वित संयोजनाओं के द्वारा ही उदात्त संगीत की सृष्टि सम्भव है। इसी प्रकार सवैया की मत्तगयन्द गति और कवित्त के तरंगायित आवर्त-प्रवाह के प्रति भी पंत जी की गीतिमयी स्वरप्रियता ने अन्याय किया है। नाद की गरिमा की उपेक्षा करके पंत जी की

कविता विराट-तत्व से वंचित हो गई है।

मूल्यांकन

विभिन्न प्रसंगों का विवेचन करने के उपरान्त अब पल्लव की भूमिका का सामान्य मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें मुख्यतः काव्य के बाह्य रूप की विवेचना है। यह भूमिका आज से ३० वर्ष पूर्व लिखी गई थी जिस समय हिन्दी आलोचना अत्यन्त निर्धन थी। सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत दो-एक अलंकार-सम्बन्धी पाठ्य ग्रन्थ, भानु जी का काव्य-प्रभाकर तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के कतिपय लेख थे, व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं के ग्रन्थ नवरत्न और विनोद थे– उन दिनों देव-विहारी के सम्बन्ध में विवाद भी इतने ज़ोर पर था कि पंत जी को उस पर व्यंग करना पड़ा है। शुक्ल जी की सिद्धान्त-सम्बन्धी गंभीर मनोवैज्ञानिक विवेचनाएँ अभी सामने नहीं आई थीं। इस पृष्ठभूमि में पंत जी के इस सूक्ष्म विश्लेषण का अध्ययन कर वास्तव में चकित हो जाना पड़ता है। हिन्दी साहित्य में पहली बार काव्य में बाह्य उपकरणों का–भाषा, अलंकार, छन्द आदि का–मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया और इतनी सूक्ष्म मर्म-भेदी दृष्टि से ! उस समय तक हमारे आलोचक इन सभी उपकरणों के वस्तु-आधार से ही परिचित थे। भाषा, अलंकार, छन्द की लय, तुक आदि यांत्रिक शब्द-योजना अप्रस्तुत विधान, अथवा वर्ण-मात्रा-गणना मात्र नहीं है उनका निश्चित मनोविज्ञान है : अर्थात् वे भी प्रेषणीय भाव और विचार द्वारा प्रेरित होते हैं– बाह्य रूपों का यह अंतर्दर्शन उनको नहीं हुआ था। पल्लव की भूमिका में काव्य की बाह्य छवियों के इन रहस्यों का पहली बार अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण हुआ। यह विश्लेषण वास्तव में अपने समय से इतने आगे था कि कम-से-कम एक दशाब्द तक हिन्दी आलोचक इसके मर्म को नहीं समझ पाये।

छायावाद-युग में आकर जब पाश्चात्य आलोचना से सम्पर्क गहरा हुआ और हमारी आलोचना में भी अंतर्विश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास हुआ, तो पल्लव की भूमिका का गहरा प्रभाव पड़ा। काव्य के कला-पक्ष के प्रति हिन्दी में एक नवीन दृष्टिकोण का विकास हुआ। काव्य-भाषा के क्षेत्र में व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता के अतिरिक्त शब्द-अर्थ के अनेक चमत्कारों की ओर ध्यान गया, अलंकारों के नाम गिनाना यथेष्ट नहीं समझा गया : उनके अंतश्चमत्कारों का विश्लेषण होने लगा, छन्द में गति-भंग, यति-भंग, मात्रा-वर्ण आदि की गणना के स्थान पर उनके आंतरिक संगीत और भावानुकूल लय आदि का विवेचन

अधिक सार्थक माना जाने लगा। शास्त्र की शब्दावली में काव्य के कला-पक्ष की आलोचना रीति-रूढ़ियों से मुक्त होकर मनोवैज्ञानिक होने लगी।

इसका एक विपरीत प्रभाव पड़ा—कला-पक्ष के विवेचन में रुचि बढ़ जाने से छायावाद के विषय में यह धारणा बनने लगी कि वह काव्य-शिल्प का—अभिव्यंजना का—एक प्रकार मात्र है। शुक्ल जी जैसे उद्भट आलोचक इस भ्रान्ति के शिकार हो गये। परन्तु इसमें बेचारे पंत जी का क्या दोष? उस समय कदाचित् इसकी आवश्यकता अधिक थी—बाद में काव्य के विचार और भाव-पक्ष का उन्होंने अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन किया है, वरन् यह कहना चाहिए कि बाद में तो उन्होंने कला-पक्ष को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है।

प्रस्तुत भूमिका के दोष भी उतने ही मुखर हैं जितने कि गुण। पंत जी प्रतिभावान कवि हैं: उनमें युग-प्रवर्तक की असाधारण प्रतिभा है। अतएव अपनी प्रतिभा के बल पर वे काव्य के ऐसे अनेक रहस्यों का सहज ही साक्षात्कार कर सके जो शिक्षा और अभ्यास के लिये सामान्यतः सम्भव नहीं थे। परन्तु विचार के लिये प्रौढ़ि का भी महत्व कम नहीं है: भूमिका में प्रतिभा की दीप्ति तो अवश्य है, परन्तु प्रौढ़ और संतुलित विचार की न्यूनता है। ब्रज-भाषा और साहित्य के विरुद्ध उनका आक्रोश सर्वथा न्याय्य नहीं है, रीति-काव्य के रस-सिद्ध कवियों के प्रति भी वे अत्यन्त कठोर हैं: उसी प्रवाह में वे कवित्त और सवैया का भी तिरस्कार कर बैठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो कवि पर पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव इतना अधिक है कि उसके मन में भारतीय वाङ्मय के प्रति उपेक्षा-भाव उत्पन्न हो गया है; दूसरे नवीन कविता के तत्कालीन विरोध ने, जो बड़े स्थूल रूप में प्रकट हो रहा था, उसे कुछ और उत्तेजित कर दिया है। इस लिये पंत जी का व्यंग्य स्थान-स्थान पर उनके सौम्य स्वभाव के विपरीत बड़ा तीखा हो उठा है। फिर भी कारण चाहे जो कुछ हो, पल्लव की भूमिका में वांछित प्रौढ़ता और संतुलन का अभाव है। यही बात इसकी भाषा के विषय में है—भूमिका की भाषा के भी गुण-दोष साफ़ अलग-अलग चमक जाते हैं: एक ओर उसमें कवित्व की छटा और अत्यन्त मार्मिक लाक्षणिक प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर कृत्रिमता और वागाडम्बर भी कम नहीं हैं। कहीं-कहीं भाषा के शब्दावर्त में विचार एकदम छिप जाता है, पुनरावृत्ति का भी अभाव नहीं है—और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है जैसे कवि अपने उद्देश्य को भूल कर भाषा की छटा को ही साध्य मान बैठा है: उद्देश्यों का यह विपर्यय अपने आप में एक बड़ा अपराध है। कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी अस्पष्ट या अशुद्ध

अधिक सार्थक माना जाने लगा। शास्त्र की शब्दावली में काव्य के कला-पक्ष की आलोचना रीति-रूढ़ियों से मुक्त होकर मनोवैज्ञानिक होने लगी।

इसका एक विपरीत प्रभाव पड़ा—कला-पक्ष के विवेचन में रुचि बढ़ जाने से छायावाद के विषय में यह धारणा बनने लगी कि वह काव्य-शिल्प का—अभिव्यंजना का—एक प्रकार मात्र है। शुक्ल जी जैसे उद्भट आलोचक इस भ्रान्ति के शिकार हो गये। परन्तु इसमें बेचारे पंत जी का क्या दोष? उस समय कदाचित् इसकी आवश्यकता अधिक थी—बाद में काव्य के विचार और भाव-पक्ष का उन्होंने अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन किया है, वरन् यह कहना चाहिए कि बाद में तो उन्होंने कला-पक्ष को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है।

प्रस्तुत भूमिका के दोष भी उतने ही मुखर हैं जितने कि गुण। पंत जी प्रतिभावान कवि हैं: उनमें युग-प्रवर्तक की असाधारण प्रतिभा है। अतएव अपनी प्रतिभा के बल पर वे काव्य के ऐसे अनेक रहस्यों का सहज ही साक्षात्कार कर सके जो शिक्षा और अभ्यास के लिये सामान्यतः सम्भव नहीं थे। परन्तु विचार के लिये प्रौढ़ि का भी महत्व कम नहीं है: भूमिका में प्रतिभा की दीप्ति तो अवश्य है, परन्तु प्रौढ़ और संतुलित विचार की न्यूनता है। व्रज-भाषा और साहित्य के विरुद्ध उनका आक्रोश सर्वथा न्याय्य नहीं है, रीति-काव्य के रस-सिद्ध कवियों के प्रति भी वे अत्यन्त कठोर हैं: उसी प्रवाह में वे कवित्त और सवैया का भी तिरस्कार कर बैठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो कवि पर पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव इतना अधिक है कि उसके मन में भारतीय वाङ्मय के प्रति उपेक्षा-भाव उत्पन्न हो गया है; दूसरे नवीन कविता के तत्कालीन विरोध ने, जो बड़े स्थूल रूप में प्रकट हो रहा था, उसे कुछ और उत्तेजित कर दिया है। इस लिये पंत जी का व्यंग्य स्थान-स्थान पर उनके सौम्य स्वभाव के विपरीत बड़ा तीखा हो उठा है। फिर भी कारण चाहे जो कुछ हो, पल्लव की भूमिका में वांछित प्रौढ़ता और संतुलन का अभाव है। यही बात इसकी भाषा के विषय में है—भूमिका की भाषा के भी गुण-दोष साफ़ अलग-अलग चमक जाते हैं: एक ओर उसमें कवित्व की छटा और अत्यन्त मार्मिक लाक्षणिक प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर कृत्रिमता और वागाडम्बर भी कम नहीं है। कहीं-कहीं भाषा के शब्दावर्त में विचार एकदम छिप जाता है, पुनरावृत्ति का भी अभाव नहीं है—और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है जैसे कवि अपने उद्देश्य को भूल कर भाषा की छटा को ही साध्य मान बैठा है: उद्देश्यों का यह विपर्यय अपने आप में एक बड़ा अपराध है। कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी अस्पष्ट या अशुद्ध

है—जैसे 'राग' का प्रयोग अस्पष्ट है : यह स्पष्ट नहीं होता कि राग से अभिप्राय आधारभूत भाव का है या संगीत का। इसी प्रकार 'एक्सप्रेशन' के लिए एक स्थान पर 'स्वर' पर्याय का प्रयोग हुआ है जो किसी भी रूप में शुद्ध नहीं है : 'स्वर' 'टोन' का पर्याय तो हो सकता है, 'एक्सप्रेशन' का नहीं।

परन्तु यह सब छिद्रान्वेषण तो विश्लेषात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है—तनिक संश्लेषात्मक दृष्टि से विचार कीजिए : आज से तीस वर्ष पूर्व हिन्दी आलोचना का अन्धकार-युग—२४-२५ वर्ष की आयु का युवा कवि और काव्य-कला के मर्म का यह अपूर्व उद्घाटन ! आलोचक का मन सम्भ्रम और विस्मय से भर जाता है और अभिनवगुप्त के शब्दों में वह अनायास ही कह उठता है :

क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसर-सुभगं भासयति तत्।
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्॥

: ग्यारह :

पंत जी की भूमिकाएँ

(ख) गद्य-पथ

गद्य-पथ में दो खण्ड है। पहले खण्ड में पंत जी की पाँच भूमिकाएँ है—इनमें 'पल्लव' का प्रसिद्ध युग-परिवर्तनकारी प्रवेश, 'आधुनिक कवि' का सूक्ष्म 'पर्यालोचन' तथा 'उत्तरा' की प्रतिरक्षात्मक 'प्रस्तावना' है जिसमें अन्तर्मन का गहन विश्लेषण है। 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' भी पंत जी की अंतश्चेतना के विकास के उस मोड़-विशेष के बहिरन्तर वातावरण को स्पष्ट करता है। 'विज्ञप्ति' का मूल्य साहित्यिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। प्रस्तुत संकलन में पहली बार यह अविकल रूप से हिन्दी पाठकों के समक्ष आई है —इसमें 'सुकवि-किंकर' जी पर बाल-कवि का वह कठोर प्रहार भी यथावत् वर्तमान है। मधुमक्खी भी चिढ़ कर डंक मारने पर बाध्य हो जाती है—हमारे मन में इसे पढ़ कर यह भाव अनायास ही जाग्रत हो जाता है। पल्लव के प्रवेश में पहली बार शब्द, अलंकार तथा छन्द की अंतरात्मा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ और काव्य-शिल्प के विश्लेषण को नवीन दिशा मिली। पल्लव के प्रवेश में केवल बहिरंग का ही विवेचन था, किंतु 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन में काव्य की अंतश्चेतना का भी विस्तार के साथ विश्लेषण किया गया है। यद्यपि पंत जी ने यहाँ मुख्य रूप से अपनी ही विकासमयी काव्य-चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है फिर भी विशिष्ट के साथ सामान्य का विवेचन भी हो ही गया है। कवि ने यहाँ आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण करते हुए अपने काव्य के विषय में अनेक मौलिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया है : वीणा से लेकर ग्राम्या तक कवि की अंतश्चेतना किस प्रकार सुन्दर से शिव की ओर सत्य के मार्ग से बढ़ी है, किस प्रकार प्राकृतिक सौंदर्य से प्रेरित उनकी कल्पना क्रमशः ऐतिहासिक विचारधारा से प्रभाव ग्रहण करने लगी है—इस विकास-क्रम का अत्यन्त सफल निरूपण प्रस्तुत पर्यालोचन में मिलता है। पंत जी की काव्य-चेतना का मूल कल्पना है—इस तथ्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त स्वीकृति भी यहाँ पहली बार है : "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ।—मेरा कि वीणा से ग्राम्या तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना

है--जैसे 'राग' का प्रयोग अस्पष्ट है : यह स्पष्ट नहीं होता कि राग से अभिप्राय आधारभूत भाव का है या संगीत का। इसी प्रकार 'एक्सप्रेशन' के लिए एक स्थान पर 'स्वर' पर्याय का प्रयोग हुआ है जो किसी भी रूप में शुद्ध नहीं है : 'स्वर' 'टोन' का पर्याय तो हो सकता है, 'एक्सप्रेशन' का नहीं।

परन्तु यह सब छिद्रान्वेषण तो विश्लेषात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है--तनिक संश्लेषात्मक दृष्टि से विचार कीजिए : आज से तीस वर्ष पूर्व हिन्दी आलोचना का अन्धकार-युग---२४-२५ वर्ष की आयु का युवा कवि और काव्य-कला के मर्म का यह अपूर्व उद्घाटन ! आलोचक का मन सम्भ्रम और विस्मय से भर जाता है और अभिनवगुप्त के शब्दों में वह अनायास ही कह उठता है :

क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसर-सुभगं भासयति तत्।
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्॥

: ग्यारह :

पंत जी की भूमिकाएँ

(ख) गद्य-पथ

गद्य-पथ में दो खण्ड है। पहले खण्ड में पंत जी की पाँच भूमिकाएँ हैं—इनमे 'पल्लव' का प्रसिद्ध युग-परिवर्तनकारी प्रवेश, 'आधुनिक कवि' का सूक्ष्म 'पर्यालोचन', तथा 'उत्तरा' की प्रतिरक्षात्मक 'प्रस्तावना' है जिसमें अन्तर्मन का गहन विश्लेषण है। 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' भी पंत जी की अंतश्चेतना के विकास के उस मोड़-विशेष के बहिरन्तर वातावरण को स्पष्ट करता है। 'विज्ञप्ति' का मूल्य साहित्यिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। प्रस्तुत संकलन में पहली बार यह अविकल रूप से हिन्दी पाठकों के समक्ष आई है —इसमें 'सुकवि-किंकर' जी पर बाल-कवि का वह कठोर प्रहार भी यथावत् वर्तमान है। मधुमक्खी भी चिढ़ कर डंक मारने पर बाध्य हो जाती है—हमारे मन में इसे पढ़ कर यह भाव अनायास ही जागृत हो जाता है। पल्लव के प्रवेश में पहली बार शब्द, अलंकार तथा छन्द की अंतरात्मा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ और काव्य-शिल्प के विश्लेषण को नवीन दिशा मिली। पल्लव के प्रवेश मे केवल बहिरंग का ही विवेचन था, किंतु 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन में काव्य की अंतश्चेतना का भी विस्तार के साथ विश्लेषण किया गया है। यद्यपि पंत जी ने यहाँ मुख्य रूप से अपनी ही विकासमयी काव्य-चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है फिर भी विशिष्ट के साथ सामान्य का विवेचन भी हो ही गया है। कवि ने यहाँ आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण करते हुए अपने काव्य के विषय में अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया है : वीणा से लेकर ग्राम्या तक कवि की अंतश्चेतना किस प्रकार सुन्दर से शिव की ओर सत्य के मार्ग से बढ़ी है, किस प्रकार प्राकृतिक सौंदर्य से प्रेरित उनकी कल्पना क्रमशः ऐतिहासिक विचारधारा से प्रभाव ग्रहण करने लगी है—इस विकास-क्रम का अत्यन्त सफल निरूपण प्रस्तुत पर्यालोचन में मिलता है। पंत जी की काव्य-चेतना का मूल आधार कल्पना है—इस तथ्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त स्वीकृति भी यहाँ पहली बार मिलती है : "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ।—मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही

वाणी दी है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते हैं।" इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति में पंत-काव्य की शक्ति और परिसीमा निहित है। पंत जी ने भाव अथवा अनुभूति के स्थान पर कल्पना को जीवन का सबसे बड़ा सत्य माना है : यह मान्यता इस सत्य की स्वीकृति है कि हमारे आदर्श सदा हमारे स्वभाव अथवा अंत:संस्कारों के उन्नयन मात्र होते हैं। पंत जी के संकोचशील, अनुभव-भीरु स्वभाव का सबसे बड़ा सहारा कल्पना ही है—अनुभूति के रक्त-मांस से अपुष्ट उनके संस्कार कल्पना की वायवी क्रीड़ाओं में ही सुख ले सकते हैं। कल्पना जीवन के लिए वरदान है, इसमें क्या संदेह है : किन्तु अनुभूति तो स्वयं जीवन ही है। अनुभूति के पोषण में ही कल्पना की सिद्धि है, किन्तु पंत जी भाव को कल्पना का पोषक उपकरण मानते हैं। यह वास्तव में जीवन-तत्वों का मौलिक विपर्यय है और पंत के काव्य में जीवन की प्राणवत्ता तथा रक्त-मांस का अभाव इसी के कारण है। ग्राम्या के विषय में उनकी सफ़ाई है : "ग्राम जीवन में मिल कर उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त-मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव के रूप में देखा है।"—पंत जी क्षमा करें यह तर्क निष्प्राण है। ग्राम्या की सृष्टि, जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, विचार-धाराओं, स्वप्नों और कल्पनाओं से प्रेरित होकर की गयी है, उसके पीछे अनुभूत सत्यों की जीवन्त प्रेरणा नहीं है—विचार, कल्पना और स्वप्नों की अप्रत्यक्ष प्रेरणा है। वास्तव में विचार और कल्पना की अधिक से अधिक सम्भव विभूतियों का अर्जन पंत जी कर चुके हैं—पर प्रत्यक्ष अनुभूति की आग में तपे बिना जीवन की मूर्ति पूर्णतम कैसे हो सकती है ?

अंतश्चेतना का विश्लेषण 'उत्तरा' की प्रस्तावना में और भी सूक्ष्म-गहन हो गया है—कवि का चिंतन इस समय श्री अरविंद के 'अंतर्चेतनावाद' से प्रभावित है। परन्तु अंतर्चेतनावाद की यह आग्रहपूर्ण स्वीकृति कोई नवीन घटना नहीं है। जैसा कि पंत जी ने स्वयं स्पष्ट किया है यह उनकी विचार-परम्परा की सहज परिणति मात्र है :

"ज्योत्स्ना में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपांतरित होने की ओर इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्ण किरण' में अंतर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है, किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान

रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से, इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है, तो 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर जो तत्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"

पंत जी के अनुसार इस युग की विषमताओं का समाधान है लोक-संगठन और मनःसंगठन—स्वस्थ भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय से निर्मित सांस्कृतिक चेतना जिसे उन्होंने अंतर्चेतना तथा नवमानववाद भी कहा है। यह चेतना मानव के ऊर्ध्व विकास और समतल विकास की पूर्ण संतुलित स्थिति है। आज के कलाकार को भी इसी से अपना सौन्दर्य-बोध प्राप्त करना होगा। कवि के अपने शब्दों में: "जीवन के शतदल को मानस तल के ऊपर नवीन सौन्दर्य-बोध में प्रतिष्ठित कर उसमें पदार्थ की पंखुड़ियों का संतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य भरना होगा।" पंत जी की विचारधारा की यही परिणति है। पंत जी के इस दार्शनिक चिंतन पर फ्रायड आदि के नवीन अनुसंधान का भी प्रभाव है, परन्तु कवि ने प्राणि-शास्त्र पर आश्रित उनके उपचेतनवाद को मान्यता-रूप में स्वीकार नहीं किया: उसकी प्रक्रिया मात्र का उपयोग किया है। वास्तव में पंत जी की चिंता-धारा के चरम परिपाक-रूप इस दर्शन का प्रस्तुत भूमिका में अत्यन्त सफल तथा गम्भीर विवेचन हुआ है। इस प्रौढ़ विवेचना को डा० रामविलास के एक लेख से प्रेरणा मिली है—उसका उत्तर या प्रत्यालोचन तो यह नहीं है क्योंकि उत्तर का अधिकारी समकक्ष व्यक्ति ही हो सकता है: किन्तु फिर भी इसकी पृष्ठभूमि में डाक्टर शर्मा का वह युगान्तक लेख था अवश्य जिसकी कृपा से साहित्यिक विप्लव के उस अल्पायु तथाकथित प्रगतिवादी युग का सहज अंत हो गया है। काव्य के आत्मदर्शी मर्म-ज्ञाता और सिद्धान्त-व्यवसायी के सांस्कृतिक स्तर में कितना अंतर होता है इसका आभास प्रस्तुत भूमिका और उधर डा० शर्मा के लेख के युगपत् अध्ययन से आपको सहज ही मिल जाएगा।

गद्य-पथ का दूसरा खंड इतना गम्भीर चाहे न हो किन्तु रोचक अधिक है। उसमें पंत जी के कवि-जीवन के अनेक ऐसे संस्मरण हैं जो अत्यन्त ज्ञान-वर्धक हैं और रोचक भी हैं। उदाहरण के लिए पंत-साहित्य के कितने अध्येता यह जानते हैं कि पंत जी को सबसे पहले काव्य-प्रेरणा लक्ष्मणसिंह के हिन्दी मेघदूत से मिली थी। पंत के काव्य पर कालिदास का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है इसलिए यह अनुमान चाहे आप कर भी लें किन्तु क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि पंत के आरम्भिक प्रेरक प्रभावों में नरोत्तमदास कृत सुदामा-चरित भी है और

शुरू में नाथूराम शंकर शर्मा की कविता भी पंत जी को अच्छी लगती थी। पंत जी अल्प-अधीत नहीं हैं किन्तु उन्होंने पुस्तकों की अपेक्षा प्रकृति और प्रकृति के बाद महापुरुषों के दर्शन अथवा मानसिक सत्संग से अधिक सीखा है। जिन दो पुस्तकों का उन्होंने विशेष रूप से उल्लेख किया है उनमें पहले बाइबिल और तत्पश्चात् उपनिषद् का नाम आता है। वास्तव में यह स्वीकृति कितनी सहज सत्य है। पंत जी के बाल-सरल स्वभाव को निश्चय ही बाइबिल का सरल चिंतन अधिक अनुकूल रहा होगा—इसमें सन्देह नहीं। इस खंड का दूसरा लेख भी काफ़ी रोचक है और वह है 'यदि मैं कामायनी लिखता।' पंत जी ने अत्यन्त निश्छल भाव से स्वीकार किया है कि कामायनी लिखना उनके लिए असम्भव था, और यह बात भी ठीक ही है। पंत और प्रसाद दोनों की प्रतिभाओं में मौलिक भेद है। पंत जी की प्रतिभा यदि मुग्धा किशोरी है तो प्रसाद जी की प्रतिभा रसम्भरा युवती। प्रसाद का मधुर और विराट दोनों पर अधिकार था, पंत जी की कोमल कल्पना मधुर के साथ तो विस्मय-विमुग्ध क्रीड़ाएँ करने में प्रगल्भ है किन्तु उसकी कोमल बाँहें विराट को अपने आलिंगन में नहीं बाँध सकती। फिर भी कामायनी के विषय में पंत जी के कुछ निष्कर्ष इतने पैने हैं कि तुरन्त ही कामायनी के अध्येता के मन में प्रवेश कर जाते हैं। उदाहरण के लिए उनका यह आरोप कितना मार्मिक और तलस्पर्शी है कि कामायनी में अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मिलता है। इसलिए यह मन को पकड़ नहीं सकती। कला के सम्बन्ध में भी उनका यह आरोप अत्यन्त सार्थक है कि कामायनी की कला-चेतना में जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प में वैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती। कामायनी में कला-वैभव कम नहीं है किन्तु फिर भी पंत के काव्य-शिल्प की निर्दोषता उसमें कहाँ? कामायनी के प्रति मेरा पक्षपाती मन इसका उत्तर भी तुरन्त दे देता है और वह यह कि निर्दोषता प्रायः प्राण-शक्ति की न्यूनता का पर्याय हो जाती है। कामायनीकार की कला अपनी महाप्राणता में यदि कहीं-कहीं अनगढ़ भी है तो उसकी अनगढ़ता भी कनक-तुषार-मण्डित हिमालय की अनगढ़ता है। इस खंड में भी कुछ लेख अत्यन्त गम्भीर और मौलिक हैं, जैसे कला का प्रयोजन, आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत आदि। उनकी चर्चा फिर कभी और कहीं करूँगा। कुल मिलाकर गद्य-पथ आधुनिक हिंदी साहित्य का अमूल्य प्रलेख है। वह पंत के काव्य-रत्नागार की स्वर्ण कुञ्जी तो है ही, उसके द्वारा आधुनिक काव्य के अनेक सुन्दर रहस्यों का उद्घाटन भी सहज ही हो जाता है।

: बारह :

नव निर्माण

"साहित्य की व्यापकता के उपादान"

इस भाषण-माला का नाम है "नव निर्माण" और प्रस्तुत भाषण का शीर्षक है "साहित्य की व्यापकता के उपादान"। इन से एक बात स्पष्ट होती है—हिन्दी आज भारत की राष्ट्र-भाषा है; उसे अपने पद के अनुरूप सम्पन्न बनाने के लिये उसका नव निर्माण आवश्यक है। उसका शब्द-भांडार समृद्ध, उसका व्याकरण सरल तथा उसका साहित्य व्यापक होना चाहिए।

दूसरी बात इसके साथ यह उठती है कि साहित्य को व्यापक बनाने के साधन क्या हैं? अर्थात् साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या है?

मेरे जैसे व्यक्ति के मन में जो साहित्य को मूलत: एक व्यक्ति-परक प्रति-क्रिया मानता है साहित्य के निर्माण या नव निर्माण की बात सहज ही नहीं बैठती। साहित्य को यदि हम वाङ्मय के अर्थ में प्रयुक्त करें तब तो ठीक है—वाङ्मय के अंतर्गत तो सृजन और व्यवहार अथवा रस और ज्ञान दोनों का साहित्य आ जाता है। व्यवहार या ज्ञान का साहित्य प्राय: जीवन की व्याव-हारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और जिस तरह हम जीवन के अन्य व्यवहारगत स्थूल साधनों का निर्माण, संघटन अथवा आयोजन-नियोजन करते रहते हैं, इसी तरह उनसे सम्बद्ध साहित्य का भी निर्माण किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिये। और स्पष्ट शब्दों में जहाँ तक हिन्दी के विज्ञान, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, आदि से सम्बद्ध पारिभाषिक साहित्य के नव निर्माण का प्रश्न है, वह सम्भव ही नहीं, नितांत वांछनीय है। इस क्षेत्र में हिन्दी का कोष निर्धन है, और उसकी पूर्ति राष्ट्र का हिन्दी के प्रति और हिन्दी का राष्ट्र के प्रति दायित्व है।

परन्तु प्रश्न रस के साहित्य का है जिसे डीक्विन्सी ने 'शक्ति का साहित्य' कहा है, प्राचीन भारतीय अलंकार-शास्त्र मे जिसे 'काव्य' और आधुनिक पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में 'सृजन का साहित्य' नाम दिया गया है। इसके निर्माण या नव निर्माण की सम्भावना कहाँ तक है? हमारा साहित्य असम्पन्न नहीं है परन्तु उसकी और अधिक श्रीवृद्धि किसको अप्रिय होगी? पर प्रश्न यह

है कि क्या हमारे सचेष्ट एवं संगठित प्रयत्नों द्वारा यह सम्भव होगा ? क्या सृजन के साहित्य का सचेष्ट प्रयत्नों द्वारा निर्माण किया जा सकता है, और यदि किया जा सकता है तो क्या वह सृजन का साहित्य होगा ? वास्तव में सृजन के साहित्य का निर्माण यह उक्ति ही एक स्व-विरोधी उक्ति है। सृजन किया नही जाता, होता है—चेष्टापूर्वक, योजना के अनुसार, निर्माण किया जाता है, सृजन तो अनिवार्य प्रेरणा के दबाव से होता है। उदाहरण के लिये नागरी प्रचारिणी सभा एक सामूहिक प्रस्ताव द्वारा शब्द-सागर का निर्माण करा सकती थी, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली तैयार कर सकती थी, राज-नीति, अर्थ-शास्त्र पर ग्रंथ प्रस्तुत करा सकती थी, अनेक प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन करा सकती थी परन्तु पल्लव या सेवा सदन की सृष्टि नहीं करा सकती थी। आज भी कोई सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्था वैधानिक शब्दावली का निर्माण करा सकती है, संविधान के एक, दो या तीन अनुवाद प्रस्तुत कर सकती है परन्तु संविधान के मूल उद्देश्यों को सामने रख कर एक महाकाव्य की तो क्या एक छोटे-से गीत की भी रचना नहीं करा सकती। इसका कारण स्पष्ट है—रस का साहित्य एक संगठित अथवा आयोजित प्रयत्न नहीं है, वह व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार है, आत्माभिव्यंजन है, और व्यापक धरातल पर राष्ट्र का आत्म-साक्षात्कार तथा आत्माभिव्यंजन भी हो सकता है और होता है; परन्तु उस रूप में भी वह सामूहिक अथवा आयोजित प्रक्रिया नहीं होता उस रूप में भी राष्ट्र व्यक्ति के ही चिंतन द्वारा आत्म-साक्षात्कार करता है, और व्यक्ति की ही वाणी में आत्माभिव्यंजन करता है। उदाहरण के लिए गांधी के चिंतन में भारत ने आत्म-साक्षात्कार किया और रवीन्द्र की वाणी में आत्माभिव्यंजन। भारतीय रसाचार्य ने इसी परम सत्य को अनुभव और विचार की कसौटी पर पूरी तरह कस कर देख लिया था। तभी उसने काव्य के हेतुओं में सामूहिक या आयोजित प्रयत्न की कल्पना तक नहीं की। प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास ये तीनों ही वैयक्तिक गुण हैं। इन तीनों में भी प्रतिभा को सर्व-प्रमुख माना गया है और प्रतिभा एकांत वैयक्तिक सम्पत्ति है।

मैं यहाँ परम्परा के आँचल में शरण लेने का प्रयत्न नहीं कर रहा, बुद्धि को ही प्रमाण मान रहा हूँ। प्रतिभा को मैं अनिवर्चनीय जन्मान्तर-प्राप्त शक्ति के रूप में ग्रहण नहीं कर रहा हूँ यद्यपि वैसा भी कोई माने तो मैं उससे विवाद नहीं करूँगा। प्रतिभा को मैं यहाँ चेतना के रूप में मानता हूँ। व्यक्ति की केन्द्रीय शक्ति जो अनुभूति, चिंतन, विचार, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाएँ करती हैं, चेतना है। चेतना की प्रखरता, गहनता, सूक्ष्मता आदि को ही प्रतिभा का

नाम दिया जाता है। जिसकी चेतना में ये गुण हों वही प्रतिभावान है—यह चाहे पूर्व-जन्म के संस्कारों का परिणाम हो या इस जन्म की परिस्थितियों का। प्रतिभा का निर्माण नहीं किया जा सकता; वह इतनी जीवन्त है कि निर्माता का स्पर्श भी सहन नहीं कर सकती। हमारा संगठित प्रयत्न केवल एक ही सहायता कर सकता है और वह यह कि साहित्य-सृजन के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे। उदाहरण के लिये राज्य यह कर सकता है कि वह साहित्यकार को साधारण निर्वाह की चिन्ताओं से मुक्त कर दे, संस्थाएँ आदि खोल कर उसके साहित्य के प्रकाशन, वितरण आदि की उचित व्यवस्था कर दे। कुछ सीमित परिधि में यही कार्य परिषदों, सम्मेलनों और सभाओं द्वारा किया जा सकता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं? यहाँ भी मेरा दृष्टिकोण वही है। यदि आप मुझ से यह पूछें कि किन संगठित उपायों से हमारे साहित्य में व्यापकता का समावेश किया जा सकता है, तब तो मेरा उत्तर फिर यही होगा कि इस प्रकार के संगठित उपाय और साधन रस के साहित्य के लिये उपादेय नहीं हो सकते; व्यवहार के साहित्य के लिये उनकी उपादेयता अवश्य है। हाँ, इस प्रश्न को दूसरी तरह से किया जा सकता है: ऐसे उपादान कौन से हैं जिनके द्वारा साहित्य में व्यापकता आती है अर्थात् व्यापक साहित्य के उपादान-तत्व क्या हैं? हमारे साहित्य में ये किस मात्रा में वर्तमान हैं, उनका विकास कहाँ तक और किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया जा सकता है। साहित्य की व्यापकता का अर्थ है उसके क्षेत्र की व्यापकता और उसके प्रभाव की व्यापकता। और इन दोनों के लिये सब से पहली आवश्यकता है साहित्यकार की चेतना की व्यापकता। चेतना की व्यापकता वास्तव में साहित्य की व्यापकता का मूल उपादान-तत्व है। चेतना की व्यापकता का सर्व-प्रमुख उपादान है अनुभूति की व्यापकता—जिस साहित्यकार का भाव-जगत जितना विस्तृत, अनेक-रूप तथा समृद्ध होगा उतना ही व्यापक उसके साहित्य का क्षेत्र होगा। जिस कवि या साहित्यकार को जीवन के विभिन्न पक्षों का अनुभव हो, जिसने जीवन को गहरे में जाकर भोगा और सहा हो, उसी का भाव-जगत विस्तृत और समृद्ध होता है। व्यापक अनुभूति का एक प्रमाण यह है कि उसमें परस्पर विरोधी पक्षों को भी ग्रहण करने की क्षमता होती है, उसके राग की परिधि में अनुकूल-प्रतिकूल, स्व-पर, सत्-असत्, सुन्दर-कुरूप, मधुर-कटु और विराट-कोमल सभी के लिये अवकाश रहता है। यही नहीं, उसकी अनुभूति की आँच में परस्पर विरोधी तत्व घुल-

मिल कर एक हो जाते है। वास्तव में यह समन्वय चेतना की सबसे बड़ी सिद्धि है। व्यापक साहित्य का मूल उपादान यही है। इसी को दृष्टि में रखते हुए संस्कृत के आचार्य ने महाकाव्य के लिये नाना रसों से विभूषित होना आवश्यक माना है। विदेश के मेधावी आलोचक रिचर्ड्स ने ट्रेजेडी—दुःखान्त कथा—को इसी लिये काव्य का सर्व-श्रेष्ठ रूप माना है। उन्होंने काव्य का उद्देश्य माना है मनोवृत्तियों का समीकरण—और अन्तर्वृत्तियों में जितना ही अधिक विरोध होगा, उनका समीकरण उतना ही सफल और पूर्ण होगा। दुःखान्त कथा में करुणा और भय का सामंजस्य है—करुणा आकर्षक वृत्ति है, और भय विकर्षक, अतएव ये दोनों अत्यंत विरोधी वृत्तियाँ है और इनका सामंजस्य स्वभावतः ही रचयिता की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस प्रकार अनुभूति की व्यापकता साहित्य की व्यापकता का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होता है। प्रभाव की दृष्टि से तो इस उपकरण का महत्व और भी अधिक है। साहित्य मूलतः हृदय का व्यापार है और इसका माध्यम स्पष्टतः अनुभूति है। मानव मानव के हृदय में देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ जो एक तार अनुस्यूत है वह है राग। यह वह तार है जो हज़ारों वर्षों और मीलों के आर-पार आज भी वाल्मीकि या होमर और हमारे हृदय के बीच एक साथ झंकृत हो उठता है। रागात्मक जीवन के धरातल पर मानव-जीवन के सभी स्थूल भौतिक भेद मिट जाते हैं। यह शुद्ध मानवीय धरातल है, और शाश्वत साहित्य का सहज धरातल यही है। इसकी स्वीकृति चिरंतन मानव-मूल्यों की स्वीकृति है। नैतिक मूल्यों की कठोरता साहित्य की कोमल आत्मा को सह्य नहीं, बौद्धिक मूल्यों की भेद-वृत्ति साहित्य की अखंड रसमयी आत्मा को प्रिय नहीं। मानव अपने अन्तरतम रूप में जो है वही साहित्य का विषय है—जहाँ वह न नीतिवादी है और न बुद्धिवादी, वहाँ वह रागात्मा है, और उसी से साहित्य का सीधा सम्बन्ध है। भारतीय आचार्य ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इसी परम सत्य की घोषणा की है। साहित्य के अन्य उपादान हैं कल्पना, विचार, और अभिव्यक्ति भी। परन्तु ये तीनों अनुभूति से स्वतः सम्बद्ध है। कल्पना और विचार-क्षेत्र की व्यापकता व्यापक अनुभूति का प्रायः सहज परिणाम ही होती है। जिसका अनुभव-क्षेत्र व्यापक है उसकी कल्पना भी निश्चय ही व्यापक होगी और उसके विचारों में भी व्यापकता होगी। इसी प्रकार अभिव्यक्ति भी पूर्णतः अनुभूति के आश्रित है। इन सभी के इस अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के कारण ही क्रोचे ने काव्य का केवल एक उपादान माना है, और वह है सहजानुभूति जिसमें उन्होंने अनुभूति, कल्पना, विचार और अभिव्यक्ति सभी का समावेश कर दिया है।

इस प्रकार मेरे मन्तव्य का सार यह है कि साहित्य की व्यापकता का मूल और एकमात्र उपादान चेतना की व्यापकता है। हिंदी साहित्य में अब तक जो व्यापकता है उसका कारण उसके साहित्यकारों की चेतना का यही विस्तार है। प्रेमचन्द के साहित्य की व्यापकता के लिए उनकी चेतना की व्यापकता ही उत्तरदायी है जो जाति और वर्ग-भावना से ऊपर थी, जिसमें समस्त उत्तर-भारत की जन-चेतना अंतर्भूत हो गई थी। अब स्वतन्त्रता के बाद भारत के जीवन में व्यापक परिवर्तन हुआ है। भारत की राष्ट्र-भाषा होने के बाद हिन्दी का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वह अब उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा न रहकर सम्पूर्ण भारत की भाषा स्वीकृत हो गई है, और धीरे-धीरे उसका प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिंदी भाषा और साहित्य का स्वरूप व्यापक होगा। जब बँगला, गुजराती, मराठी और दक्षिण की समृद्ध भाषाओं के साहित्यकार इस भाषा को बोलें और लिखेंगे तो उनकी अभिव्यंजनाएँ, उनके मुहावरे और कहावतें, उनकी रचना-भंगिमाएँ निश्चय ही इसमें आयेंगी और इसका रूप अधिक व्यापक और लचीला होता जाएगा। साहित्य की व्यापकता भी अनिवार्य है। हिन्दी साहित्यकार क्रमशः एक प्रदेश का नागरिक न रह कर भारत का नागरिक बन रहा है; उसका पाठक-समाज बृहत्तर होता जा रहा है जिसमें नाना प्रकार की अभिरुचि और संस्कारों के नर-नारियों का समावेश हो रहा हैं। इन सब कारणों से उसकी अपनी चेतना का विस्तार होना अनिवार्य है। जब वह प्रयाग या दिल्ली, उत्तर प्रदेश या बिहार के धरातल पर नहीं, भारतीय धरातल पर भावन करेगा, तब स्वभावतः वह भारतीय साहित्य की ही सृष्टि करेगा जिसका रसात्मक प्रभाव कहीं अधिक व्यापक होगा। उसमें बँगला की भावोष्ण कला, मराठी की दृढ़ता, गुजराती की व्यावहारिकता, दक्षिण भाषाओं की संस्कारिता, और उर्दू की चटख़ और चमक हिंदी की समन्वयशीलता में पग कर एक-रूप हो जायेंगी। इस दिशा मे भी हमारा संगठित प्रयत्न केवल अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए भारत की समृद्ध भाषाओं के प्राचीन-नवीन ग्रन्थों के अनुवाद की व्यवस्था इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कार्य होगा। उनके अध्ययन और मनन से हिन्दी के साहित्यकार को अपनी निपुणता (Culture) का विकास करने में सहायता मिलेगी। उसकी चेतना की समृद्धि में भी इस अनूदित साहित्य का बड़ा योग होगा। दूसरा उपयोगी प्रयत्न हो सकता है अन्तर्साहित्यिक अध्ययन-केन्द्रों की स्थापना। इनके द्वारा हिन्दी का साहित्यकार भारतीय साहित्यिकों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ सकेगा। प्रत्यक्ष सम्पर्क का अपना विशेष लाभ है—व्यक्तित्व का

जीवित संस्पर्श चेतना को स्फूर्ति प्रदान करता है। तीसरा एक और भी आयोजन हो सकता है और वह कदाचित् अधिक उपयोगी हो सके। हिंदी के माध्यम से भारत के भिन्न-भिन्न साहित्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर समान तत्वों का संयोजन किया जाए। इससे एक तो भारतीय साहित्य की एक समन्वित रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकेगी, दूसरे हिन्दी और हिन्दी की भाँति दूसरी भाषाओं के साहित्यकारों को व्यापक धरातल पर भावन करने में भी सहायता मिलेगी। इसी प्रकार के और भी प्रयत्न सम्भव है। इनसे साहित्यकार की चेतना के उस अंग की श्रीवृद्धि में सहायता मिलती है जिसे शास्त्र में 'निपुणता' कहा गया है—क्योंकि 'निपुणता' ही एक ऐसा गुण है जो बहुत-कुछ यत्न-साध्य है। परन्तु अन्त में मैं फिर निवेदन करता हूँ कि ये प्रयत्न केवल परिस्थिति मात्र ही रह सकते हैं—प्रेरणा नहीं। प्रेरणा या दिशा-निर्देशन की दृष्टि से इनका योग इतना भी नहीं जितना कि यातायात की गतिविधि का नियन्त्रण करने में चौराहे पर खड़े पुलिस के सिपाही का।

: तेरह :

मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन

मुझ जैसे लेखक का, जिसने राजकीय सेवा के अनेक प्रलोभनों को छोड़ साग्रह अध्यापकीय वृत्ति ग्रहण की है, इस विषय में दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। आज से लगभग सात वर्ष पूर्व आकाशवाणी में नियुक्ति के समय, उज्ज्वल भविष्य का आकर्षण होते हुए भी, मेरा मन एक विचित्र शंका से उद्विग्न हो उठा था : साहित्यिक कार्य वहाँ कैसे निभेगा ? एम० ए० पास करने के उपरांत अपनी अकिंचन शक्ति के अनुसार सीमित परिधि के भीतर जिस साहित्य की साधना में इतने मनोयोग तथा अध्यवसाय के साथ कर रहा था—जिससे समर्थ राष्ट्र-भाषा की सेवा चाहे हुई हो या न हुई हो, पर आत्म-कल्याण अवश्य हुआ था—उसका मोह मुझे आर्थिक प्रलोभनों की अपेक्षा कम नहीं था। परन्तु जिन गुण-ग्राहक अधिकारी ने आग्रहपूर्वक मेरी सभी शर्तों को क्रमशः स्वीकार करते हुए मुझे अपने कृपा-भाव से लाचार कर दिया था, उन्होंने मुझे यह आश्वासन भी दिया कि यहाँ तुम्हारी साहित्य-साधना में कोई बाधा न पड़ेगी, मैं तो इसको प्रोत्साहित करता हूँ। इस आश्वासन का अवलम्ब लेकर मैं राजकीय सेवा में प्रविष्ट हुआ। आकाशवाणी का वातावरण अधिक अननुकूल नहीं था। मुझे जो काम सौंपा गया वह असाहित्यिक नहीं था; वह भी राष्ट्रीय महत्व का रचनात्मक कार्य था। परन्तु रचनात्मक साहित्य और सृजनात्मक साहित्य में अंतर है—रचना अथवा निर्माण एक योजना-बद्ध, बुद्धि-सम्मत प्रक्रिया है जिसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है, सृजन आत्म-साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है जिसमें वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। निर्माण का लक्ष्य है कल्याण, सृजन का लक्ष्य है आनन्द। आप इसे दोष मानिये या गुण, मेरी अंतर्मुखी प्रकृति आनन्द से बढ़कर आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण की कल्पना करने में असमर्थ है। वैसे अपने नये जीवन-क्रम में राष्ट्र-सेवा अथवा लोक-सेवा के महदनुष्ठान से कुछ समय बचाकर मैंने नैतिक संकल्प के साथ साहित्य-साधना आरम्भ कर दी थी और सरस्वती सर्वथा मूक नहीं हुई थी, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि दफ़्तरी शिकंजे में मेरी अंतर्वृत्तियाँ कसती जा रही हैं और लीक पर पड़ा हुआ जीवन तेली का बैल बनता जा रहा है। तत्त्व-दृष्टि से

मेरा दायित्व था रेडियो की भाषा का निर्माण—यह काम अपने आप में बहुत बड़ा था और मैं पहले दो-तीन वर्षों तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा बौद्धिक साधनों के साथ उर्दू-निष्ठ हिन्दुस्तानी को हिंदी-रूप देने में जुटा रहा। यह भी एक विचित्र अनुभव था : उसकी अनेक स्मृतियाँ मेरे मन में आज गुदगुदी उत्पन्न कर देती हैं : रेडियो की भाषा का वह ब्रह्म-सूत्र 'सर्वाधिक सुबोधता' (Maximum intelligibility) जिसमें शब्द की अभिधा-शक्ति निःशेष हो चुकी थी—और शुद्ध व्यंजना मात्र रह गई थी : सभी अपने मतानुकूल जिसका अर्थ कर सकते थे, उस समय मेरे लिए दृष्टकूट से भी अधिक था। कछ समय तक इसकी उत्तेजना रही, परन्तु धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गई, और शेष रह गया अनुवाद-कार्य का निरीक्षण। यह अनुवाद खण्ड-खण्ड होकर मेरे सामने आता था। मंत्रिमंडल के सदस्यों और विशेषकर प्रधान मंत्री आदि के राजनीतिक भाषणादि होने पर समाचार-कक्ष में एक अजब हलचल क्या भगदड़-सी मच जाती थी, देवताओं को भी आकाशवाणी के स्वर्ग-खण्ड से उतर कर स्टूडियो के पाताल-खण्ड में आना पड़ता था। उस समय काली पंक्तियों से अंकित सफ़ेद कागज़ की ये धज्जियाँ केंचुल-वेष्टित सर्पों के समान फुंकारने लगती थीं। इसके बाद मैं सोचता—आख़िर इस स्नायवी उत्तेजना से क्या लाभ ? मैंने काव्य-शास्त्र में पढ़ा था कि वासना-रूप स्थायी भाव की चरम उत्तेजना ही रस है। परन्तु आप विश्वास कीजिए यह उत्तेजना रस नहीं थी—भरत से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक इसका उल्लेख कही नही था। रात को कभी-कभी इस दौड़-धूप के सपने भी आते थे—और अत्यन्त क्षुब्ध होकर मैं देखता कि महाजन ने अनुवाद तो ठीक किया था पर 'स्टैंड-बाई' से क्रम-संख्या लगाने में भूल हो गई और देवकीनन्दन पांडे की स्फीत वाग्धारा में उस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य का वह छोटा-सा टुकड़ा तिनके के समान वैसे ही बहता चला गया। सुस्थिर होकर मैं रसवती-भूमिका की उस पर प्रत्यक्ष स्थिति का ध्यान करता जहाँ वस्तु, सम्बन्ध और सम्बन्धी का ज्ञान नष्ट हो जाता है और सोचता कि भूमा में यह थोड़ा-सा संख्या-व्यतिक्रम क्या अर्थ रखता है ? मेरा दूसरा कर्तव्य-कर्म था अँग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय बनाना। एक दिन 'डीज़िल आइल' पत्रक में आ गया। एक बुजुर्ग ने लाख मना करने पर भी बड़ा ज़ोर लगा कर उसका भी अनुवाद कर डाला : 'मोटा खनिज तेल'। बाद में किसी ने कहा कि यह तेल न मोटा होता है और न खनिज। चित्त को बड़ी ग्लानि हुई और प्रसाद जी के चाणक्य के ये शब्द मेरी अंतःसंज्ञा में गूँजने लगे : "मै ब्राह्मण हूँ—आनन्द-समुद्र में शांति-द्वीप

का अधिवासी ब्राह्मण—चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य-श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शैया थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी ब्राह्मण की जन्म-भूमि को छोड़कर कहाँ आ गया!" मैंने संकल्प किया, भगवान की कृपा से अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ, आकाशवाणी के अनेक अधिकारियों ने निश्छल मन से आग्रह किया, कुछ बड़े प्रलोभन भी सामने आये, बाहर भी हितैषियों ने इस भावुकता के विरुद्ध चेतावनी दी, किन्तु मैंने एक बार जो रस्सा तुड़ाया तो पीछे मुड़ कर नहीं देखा और सीधे विश्वविद्यालय में आकर साँस ली।

विश्वविद्यालय के मुक्त वातावरण में आकर मेरा मन स्वस्थ हो गया। पहला भाषण 'साहित्य की परिभाषा और स्वरूप' और दूसरा 'कामायनी' पर हुआ। मुझे लगा कि भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे 'मोटे खनिज तेल' और 'रासायनिक खाद' की उस दुनिया से कामायनी के इस 'आनन्द-लोक' में आ गया हूँ: आनन्दवर्धन, कुन्तक, शुक्ल, और प्रसाद की स्वर्गिक प्रतिभाओं ने आशीर्वादमयी प्रेरणा दी, प्रमाता छात्र-छात्राओं की विनम्र जिज्ञासा ने अभिनन्दन किया, मेरे मन पर लगी हुई दफ़्तरी मशीन की वह कालोंच अपने आप ही बह गई।

व्यवसाय और साहित्य-सृजन का परस्पर क्या सम्बन्ध है, पहले थोड़ा विचार इस सम्बन्ध में कर लेना अप्रासंगिक न होगा। मध्य-युग में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता था। कवि का केवल एक व्यवसाय था काव्य-रचना, उसी के द्वारा किसी राजा या श्रीमन्त का आश्रय पा कर वृत्ति की समस्या हल हो जाती थी। व्यवसाय की दृष्टि से कवियों के रीति-काल में दो मुख्य वर्ग मिलते हैं—राजा-कवि और राजाश्रित कवि। अर्थात् कविता या तो राजा कर सकता था या ऐसा व्यक्ति कर सकता था जिसकी आजीविका का दायित्व किसी राजा ने ले लिया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्य-युग के हिन्दी-साहित्यकार का व्यवसाय और साहित्य-कर्म पृथक् नहीं थे—साहित्यकार जो कवि ही होता था या तो संत या भक्त था या श्रीमन्त था या राजाश्रित। इस प्रकार साहित्य या काव्य-सृजन के अतिरिक्त उसका अन्य कोई व्यवसाय नहीं था। आधुनिक युग में साहित्य के द्वारा जीविका की सिद्धि प्रायः सम्भव न हो सकी: बहुत ही कम वास्तविक साहित्यकार ऐसे सौभाग्यशाली हुए हैं, अतः उन्हें जीविका के लिए किसी व्यवसाय का आश्रय लेना पड़ा। इस देश में अर्थ-व्यवस्था भी बड़ी अस्तव्यस्त-सी रही है, अतएव साहित्यकार को बड़े विचित्र-विचित्र व्यवसायों की शरण लेनी पड़ी है: सिनेमा

मेरा दायित्व था रेडियो की भाषा का निर्माण—यह काम अपने आप में बहुत बड़ा था और मैं पहले दो-तीन वर्षों तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा बौद्धिक साधनों के साथ उर्दू-निष्ठ हिन्दुस्तानी को हिंदी-रूप देने में जुटा रहा। यह भी एक विचित्र अनुभव था : उसकी अनेक स्मृतियाँ मेरे मन में आज गुदगुदी उत्पन्न कर देती है : रेडियो की भाषा का वह ब्रह्म-सूत्र 'सर्वाधिक सुबोधता' (Maximum intelligibility) जिसमें शब्द की अभिधा-शक्ति निःशेष हो चुकी थी—और शुद्ध व्यंजना मात्र रह गई थी : सभी अपने मतानुकूल जिसका अर्थ कर सकते थे, उस समय मेरे लिए दृष्टकूट से भी अधिक था। कछ समय तक इसकी उत्तेजना रही, परन्तु धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गई, और शेष रह गया अनुवाद-कार्य का निरीक्षण। यह अनुवाद खण्ड-खण्ड होकर मेरे सामने आता था। मंत्रिमंडल के सदस्यों और विशेषकर प्रधान मंत्री आदि के राजनीतिक भाषाणादि होने पर समाचार-कक्ष में एक अजब हलचल क्या भगदड़-सी मच जाती थी, देवताओं को भी आकाशवाणी के स्वर्ग-खण्ड से उतर कर स्टूडियो के पाताल-खण्ड में आना पड़ता था। उस समय काली पंक्तियों से अंकित सफेद कागज़ की ये धज्जियाँ केंचुल-वेष्टित सर्पों के समान फुंकारने लगती थीं। इसके बाद मैं सोचता—आख़िर इस स्नायवी उत्तेजना से क्या लाभ ? मैंने काव्य-शास्त्र में पढ़ा था कि वासना-रूप स्थायी भाव की चरम उत्तेजना ही रस है। परन्तु आप विश्वास कीजिए यह उत्तेजना रस नहीं थी—भरत से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक इसका उल्लेख कहीं नही था। रात को कभी-कभी इस दौड़-धूप के सपने भा आते थे—और अत्यन्त क्षुब्ध होकर मैं देखता कि महाजन ने अनुवाद तो ठीक किया था पर 'स्टैंड-बाई' से क्रम-संख्या लगाने में भूल हो गई और देवकीनन्दन पांडे की स्फीत वाग्धारा में उस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य का वह छोटा-सा टुकड़ा तिनके के समान वैसे ही बहता चला गया। सुस्थिर होकर मै रसवती-भूमिका की उस पर प्रत्यक्ष स्थिति का ध्यान करता जहाँ वस्तु, सम्बन्ध और सम्बन्धी का ज्ञान नष्ट हो जाता है और सोचता कि भूमा में यह थोड़ा-सा संख्या-व्यति-क्रम क्या अर्थ रखता है ? मेरा दूसरा कर्तव्य-कर्म था अँग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय बनाना। एक दिन 'डीज़िल आइल' पत्रक में आ गया। एक बुज़ुर्ग ने लाख मना करने पर भी बड़ा ज़ोर लगा कर उसका भी अनुवाद कर डाला : 'मोटा खनिज तेल'। बाद में किसी ने कहा कि यह तेल न मोटा होता है और न खनिज। चित्त को बड़ी ग्लानि हुई और प्रसाद जी के चाणक्य के ये शब्द मेरी अंतःसंज्ञा में गूँजने लगे : "मैं ब्राह्मण हूँ—आनन्द-समुद्र में शांति-द्वीप

का अधिवासी ब्राह्मण—"चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य-श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शैया थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी ब्राह्मण की जन्म-भूमि को छोड़कर कहाँ आ गया!" मैंने संकल्प किया, भगवान की कृपा से अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ, आकाशवाणी के अनेक अधिकारियों ने निश्छल मन से आग्रह किया, कुछ बड़े प्रलोभन भी सामने आये, बाहर भी हितैषियों ने इस भावुकता के विरुद्ध चेतावनी दी, किन्तु मैंने एक बार जो रस्सा तुड़ाया तो पीछे मुड़ कर नहीं देखा और सीधे विश्वविद्यालय में आकर साँस ली।

विश्वविद्यालय के मुक्त वातावरण में आकर मेरा मन स्वस्थ हो गया। पहला भाषण 'साहित्य की परिभाषा और स्वरूप' और दूसरा 'कामायनी' पर हुआ। मुझे लगा कि भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे 'मोटे खनिज तेल' और 'रासायनिक खाद' की उस दुनिया से कामायनी के इस 'आनन्द-लोक' में आ गया हूँ: आनन्दवर्धन, कुन्तक, शुक्ल, और प्रसाद की स्वर्गिक प्रतिभाओं ने आशीर्वादमयी प्रेरणा दी, प्रमाता छात्र-छात्राओं की विनम्र जिज्ञासा ने अभिनन्दन किया, मेरे मन पर लगी हुई दफ़्तरी मशीन की वह कालोंच अपने आप ही बह गई।

व्यवसाय और साहित्य-सृजन का परस्पर क्या सम्बन्ध है, पहले थोड़ा विचार इस सम्बन्ध में कर लेना अप्रासंगिक न होगा। मध्य-युग में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता था। कवि का केवल एक व्यवसाय था काव्य-रचना, उसी के द्वारा किसी राजा या श्रीमन्त का आश्रय पा कर वृत्ति की समस्या हल हो जाती थी। व्यवसाय की दृष्टि से कवियों के रीति-काल में दो मुख्य वर्ग मिलते हैं—राजा-कवि और राजाश्रित कवि। अर्थात् कविता या तो राजा कर सकता था या ऐसा व्यक्ति कर सकता था जिसकी आजीविका का दायित्व किसी राजा ने ले लिया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्य-युग के हिन्दी-साहित्यकार का व्यवसाय और साहित्य-कर्म पृथक् नहीं थे—साहित्यकार जो कवि ही होता था या तो संत या भक्त था या श्रीमन्त था या राजाश्रित। इस प्रकार साहित्य या काव्य-सृजन के अतिरिक्त उसका अन्य कोई व्यवसाय नहीं था। आधुनिक युग में साहित्य के द्वारा जीविका की सिद्धि प्रायः सम्भव न हो सकी: बहुत ही कम वास्तविक साहित्यकार ऐसे सौभाग्यशाली हुए है, अतः उन्हें जीविका के लिए किसी व्यवसाय का आश्रय लेना पड़ा। इस देश में अर्थ-व्यवस्था भी बड़ी अस्तव्यस्त-सी रही है, अतएव साहित्यकार को बड़े विचित्र-विचित्र व्यवसायों की शरण लेनी पड़ी है: सिनेमा

की नौकरी, रेडियो की नौकरी तक तो ठीक है, परन्तु उस बेचारे को राजनीतिक उखाड़-पछाड़, वकालत, रजिस्ट्रारी, क्लर्की, सुँघनी की दुकान आदि न जाने क्या-क्या करना पड़ा। किन्तु इन व्यवसायों का भी साहित्य-सृजन से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है : साहित्य इनकी शरण-भूमि है जहाँ आकर ये साहित्यकार अपने व्यवसाय की क्लान्ति मिटाते हैं। विज्ञान साक्षी है कि भावात्मक प्रभाव अभावात्मक प्रभाव से कम प्रबल नहीं होता, अतएव इनकी भी सृजन-प्रेरणा किसी प्रकार कम बलवती नहीं है।

मेरा व्यवसाय इस दृष्टि से अधिक सौभाग्यशाली है। अध्यापन का, विशेषकर उच्च स्तर के अध्यापन का, साहित्य के अन्य अंगों के सृजन से सहज सम्बन्ध न हो, परन्तु आलोचना से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वैसे अध्यापक का व्यवसाय साहित्य के प्रायः सभी रूपों के सृजन के अनुकूल पड़ सकता है क्योंकि उसमें सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं : शांतिमय वातावरण, अनावश्यक संघर्ष तथा स्नायवी उत्तेजना का अभाव, महान प्रतिभाओं के साथ आध्यात्मिक सम्पर्क, कम से कम वाणी द्वारा [illegible]; सभी परिस्थितियाँ सृजन के लिए अनुकूल हैं। फिर भी कुछ साहित्य-रूप ऐसे हैं जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा गहरे जीवन-मंथन की अपेक्षा करते हैं—उदाहरण के लिए उपन्यास या नाटक के लिए अध्यापक-जीवन की शांति और सीमित परिधि अधिक उपयोगी नहीं है : और इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि देश-विदेश का कोई बिरला ही उपन्यासकार अध्यापक रहा हो। किन्तु आलोचना के विषय में यह शंका नहीं हो सकती—आलोचना और अध्यापन का उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है, उच्च स्तर के अध्यापन से तो आलोचना का पोषण होता है। और, इसका भी एक प्रमाण यह है कि देश-विदेश के अधिकांश आलोचक अध्यापक हैं, रहे हैं, या बन गये हैं। यह स्वाभाविक भी है। आलोचक के मूलतः कर्तव्य-कर्म हैं : (१) रस ग्रहण करना (२) गृहीत रस को अपने व्याख्यान-विवेचन के द्वारा सभी सहृदयों के लिए सुलभ करना या उसमें सहायता देना (३) इसके आगे सत्-असत् का निर्णय कर जिज्ञासु-समाज का मार्ग-दर्शन करना, और अंत में (४) साहित्य की गतिविधि का अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण तथा संचालन करना। इनमें से पहले दो अधिक सहज एवं मूलगत हैं क्योंकि काव्य का पूर्ण आस्वादन तो प्राथमिक आवश्यकता है और वह अपने आप में सिद्धि भी है। यदि प्रमाता उतने ही पर रुक जाए तब भी उसे सफल-काम मान लेना चाहिए : रसास्वादन अथवा संवेद्य अनुभूति का समग्र ग्रहण काव्य की सबसे सफल आलोचना है, ऐसा प्रमाता बिना कुछ लिखे भी काव्य का मूक आलोचक होता है।

सत्-आलोचना का पहला सोपान यही मूक आलोचना है। अध्यापक के लिए यह सहज सुलभ है : श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन—महान प्रतिभाओं के साथ मानसिक साहचर्य उसका नैत्यिक कर्म है। अन्य व्यवसाय के साहित्यकार को जहाँ इसके लिए भी समय निकालना पड़ेगा, वहाँ अध्यापक का तो व्यवसाय ही यही है। दूसरा सोपान है इस आस्वाद को सहृदयों के लिए सुलभ करना। अध्यापक वृत्तितः व्याख्याता और विवेचक होता है : ऊँची श्रेणी के विद्यार्थी और अनुसन्धाता को काव्य का मर्म समझाना उसका व्यावसायिक कर्त्तव्य-कर्म है। लेखक का अपने पाठक के साथ सम्बन्ध जहाँ परोक्ष होता है, वहाँ अध्यापक का प्रत्यक्ष होता है। काव्य का एक मूल उद्देश्य है सम्प्रेषित करना—सफल अध्यापक का भी यही पहला गुण है। काव्य के संवेद्य-सार को काव्य से खींच कर अपनी आत्मा में भर लेना और फिर उसे अपनी आत्मा के रस में पाग कर ग्रहणशील छात्र-वर्ग की आत्मा में भर कर उसकी अन्तश्चेतना को स्फूर्त कर देना अध्यापक की सिद्धि है, और मेरा विश्वास है कि आलोचक भी इससे बड़ी किसी सिद्धि की कामना नहीं कर सकता। कामायनी आदि की क्लास लेने के बाद मेरे मन में प्रायः यह आता है कि अध्यापक भी साधारणीकरण का एक समर्थ साधन है। अध्यापक के इस रूप का निश्चय ही आलोचक के साथ घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्ध है। आलोचक के कर्त्तव्य-कर्म की चरम परिणति यही है। इसके आगे सत्-असत् का निर्णय भी उसका धर्म है। स्वतः निर्णय और छात्र-वर्ग की निर्णय-शक्ति का विकास अध्यापक के धर्म की परिधि में भी आते है : साहित्य का असाहित्य से भेद करना और कराना सफल अध्यापक का भी उतना ही आवश्यक कर्त्तव्य है जितना आलोचक का। अपनी सीमित परिधि में अध्यापक भी काव्य-जिज्ञासुओं की रुचि का संस्कार तथा निर्माण कर आलोचना की पूर्व-पीठिका तैयार करता है। अंत में, साहित्य की गति-विधि का नियन्त्रण तथा संचालन आलोचक का उच्चतम लक्ष्य माना गया है। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि अप्रत्यक्ष रूप से कोई-कोई अत्यन्त समर्थ आलोचक ही ऐसा कर सकता है, सामान्यतः यह सम्भव नहीं होता और साहित्य के लिए यह शुभ लक्षण भी नहीं है। साहित्य की गति-विधि का संचालन स्रष्टा कलाकार की अदम्य प्रतिभा द्वारा ही सम्भव है। आलोचक उसका आख्यान कर, उसके काव्य-सौन्दर्य को सुलभ कर, उसके संवेद्य के साधारणीकरण में योग देकर, लोक-मत, या काव्य की शब्दावली में सहृदय-मत जगाता है। इससे अधिक का गर्व आलोचक के लिए उचित नहीं है। अध्यापक भी अपनी छोटी-सी परिधि मे इसका दावा कर सकता है। मैने अनेक साहित्यिकों को यह कहते सुना है कि आप अध्यापक लोग

जिसको चढ़ा दें वही महाकवि है। उनकी यह शिकायत अध्यापक के महत्त्व की अप्रत्यक्ष स्वीकृति है। इस प्रकार अध्यापक अपने क्षेत्र में आलोचक के कर्त्तव्य का निर्वाह करता है।

यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष। साहित्य-सृजन के लिए अध्यापन-वृत्ति की कुछ बाधाएँ भी हैं। अध्यापक के लिए एक बड़ा ख़तरा यह है कि कहीं वह सिद्धान्त की बात करते-करते शास्त्राभ्यास-जड़ न बन जाये। साहित्य-सृजन की सबसे बड़ी बाधा है यह। यह जैसे उसकी आस्वाद-वृत्तियों को कुण्ठित कर सृजन-शक्ति का नाश कर देती है। अध्यापक सिद्धान्त के रूढ़ि-जाल में जकड़ जाता है, उसका व्याख्यान-विवेचन अपनी स्फूर्ति खो बैठता है। ऐसे अध्यापक को एक प्रकार के छद्म रस के प्रति रुचि हो जाती है और वह शास्त्र के माध्यम से काव्य का मनन करता हुआ उसके वास्तविक रस से अपने को वंचित कर लेता है। ऐसे अध्यापक की आलोचना स्वभावतः ही छद्म-आलोचना होगी। एक दूसरा बड़ा ख़तरा परीक्षा का है। कोई भी ईमानदार अध्यापक परीक्षा की एकान्त उपेक्षा नहीं कर सकता, ऐसा करना अपने व्यवसाय के प्रति बेईमानी होगी। परीक्षा साहित्य-शिक्षण का निकृष्टतम किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य अंग है। आज की शिक्षा-व्यवस्था में उसका महत्त्व सर्वाधिक है—इसमें सन्देह नहीं। इसलिए कोई भी अध्यापक परीक्षा से सर्वथा पराङ्मुख होने का दम्भ नहीं कर सकता। उसका विद्यार्थी ऐसा करने भी नहीं देगा। अध्यापक-आलोचक को चाहिए कि साहित्य-सृजन और अपने व्यवसाय के इस अंग में किसी प्रकार की मैत्री न होने दे, अन्यथा आलोचना में 'सुगम--बोध' की गन्ध आने लगेगी। इस व्यवसाय का यह ख़तरा भी बहुत बड़ा है। तीसरा ख़तरा है शिक्षक-वृत्ति का विकास। काव्य के आस्वादन के लिए कवि और काव्य के प्रति श्रद्धा-भाव अनिवार्य है। कवि के समक्ष प्रमाता को विद्यार्थी-रूप में जाना चाहिए। विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक का यह दृष्टिकोण कुण्ठित हो जाता है। वह कवि के सामने भी शिक्षक के रूप में जाता है। आलोचक की यह घोर विफलता है और अध्यापक-वृत्ति इस दृष्टिकोण को दुरुत्साहित कर आलोचना के सृजन में बाधक होती है। अध्यापक-आलोचक को इन बाधाओं के प्रति अत्यन्त सशंक रहना चाहिए—उसे नासिख़ का यह शेर गुरु-मन्त्र के समान सदा याद रखना चाहिए कि :—

इश्क़ को दिल में दे जगह नासिख़।
इल्म से शायरी नहीं आती॥

: चौदह :

बीबी : एक संस्मरण

[स्वर्गीया बहिन होमवती देवी]

१ फ़रवरी को मेरठ से तार आया : होमवती जी की स्थिति असाध्य हो गयी है और कई मित्रों के साथ मुझे भी बुलाया है। बीबी का स्वास्थ्य काफ़ी दिनों से ख़राब था, पर असाध्य स्थिति की कल्पना मैंने नहीं की थी। पिछले दो-एक वर्ष से उनकी बातचीत और पत्र आदि में इस दुर्घटना का बार-बार आभास मिलता था, पर मन अनिष्ट की अप्रिय कल्पना से सदा बचने का प्रयत्न किया करता है, और मैंने कभी इस शंका को बद्धमूल नहीं होने दिया। पर अनिष्ट हो ही गया। २ और ३ के बीच की रात को बीबी इस संसार से चली गईं और हम लोग उनका शव उठ जाने के लगभग १५-२० मिनट बाद पर्णकुटी पहुँचे। बीबी के बिना पर्णकुटी की कल्पना मेरे लिये सम्भव नहीं थी। उनका वह कमरा जहाँ जीवन की वे एकांत साधिका सोती-बैठती थीं, उनका पूजा-गृह जहाँ वे तल्लीन होकर भगवान कृष्ण की मूर्ति और उनके पास रखे हुए डाक्टर साहब के चित्र की एक भाव से आराधना किया करती थीं, उनका वह रसोईघर जहाँ वे साक्षात् अन्नपूर्णा के सदृश स्वयं बैठकर अपने बन्धु-बान्धवों के लिये रसोई का प्रबन्ध करती थीं, उनका वह बड़ा कमरा जो अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन-स्थान रह चुका था, सभी जैसे उनके व्यक्तित्व से आपूर्ण थे। मै घर के भीतर जान-बूझ कर नही गया, जा ही नहीं सकता था। बीबी को क्या कभी सह्य था कि मै आकर थोड़ी देर भी बाहर खड़ा रहूँ! बीबी तुरंत ही बाहर आकर मुझे अन्दर बुला ले जाती थीं—क्यों, परदेसी की तरह यहीं खड़े रहोगे? तुम्हारे स्वागत के लिये भी बाहर आना पड़ेगा? आज बीबी नही आईं। आज वे मुझ से नाराज़ हो गई थीं! मै कितनी देर में पहुँचा था। पन्द्रह-बीस मिनट का अन्तर! यह पन्द्रह-बीस मिनट का अन्तर एक संसार और दूसरे संसार के बीच का अन्तर था! जीवन के प्रकाश और मृत्यु के अंधकार के बीच का दुर्लंघ्य अंतर था! मेरा मन एक घोर विषाद से भर गया; मै चलते समय बीबी के चरणों का स्पर्श भी

न कर पाया ! क्या वे मुझे क्षमा कर देंगी ? इसी ग्लानि को लेकर मैं दिल्ली लौट आया। एक-एक करके अनेक स्निग्ध-दग्ध चित्र मेरे मन की आँखों के आगे घूम गये।

मैंने बीबी को आज से १२-१३ वर्ष पूर्व मेरठ के एक कवि सम्मेलन में देखा था—देखा भी शायद अच्छी तरह नहीं था। उनकी एक कविता भाई कृष्णचन्द्र ने पढ़कर सुनाई थी। उस समय मैंने महिला-कक्ष की ओर दृष्टि डाली भी परन्तु उस समय मेरे मन में एक कवयित्री के स्वरूप की जो धारणा थी, उसके अनुकूल उन महिलाओं में कोई नहीं था। इसके उपरांत दूसरी बार मेरठ को ही कवि-गोष्ठी में उनसे साक्षात्कार हुआ: मैं कॉलिज से तभी बाहर आया था, और दिल्ली में आकर अध्यापक हुआ था। अँग्रेज़ी की रोमान्टिक कविता और हिन्दी के छायावाद के रंग में रँगा हुआ था। अतएव कवि के व्यक्तित्व का भी मेरे मन में एक अत्यन्त कल्पनामय चित्र था, कवयित्री की तो बात ही क्या थी ! बीबी में वैसा कुछ नही था, पश्चिमी उत्तर-प्रदेश की सद्गृहस्थ हिन्दू महिला-मूर्ति, एकांत गार्हस्थिक—जिस प्रकार की महिला-मूर्तियों से मैं अतरौली (अपनी जन्म-भूमि) में अपने परिवार में बाल्यकाल से ही परिचित था। अर्थात् मेरे मन के कल्पित कवि या कवयित्री के बाह्य अलंकार का, शरीर, वेशभूषा, रहन-सहन, बोलचाल आदि का बीबी में सर्वथा अभाव था। गहरे रंग का साधारण बिचोला शरीर, नियमित रूप से सिर पर से ओढ़ी हुई मामूली सफ़ेद धोती और उसके ऊपर उत्तर प्रदेश की सवर्ण स्त्रियों की वस्त्र-भूषा का अनिवार्य अंग चादर, उज्ज्वल ललाट और उसके नीचे चिर-ममत्व से स्निग्ध आँखें, दु:ख ने जिन्हें एक चिरन्तन करुणार्द्र ज्योति प्रदान कर दी थी, और उधर जीवन का व्यावहारिक संघर्ष जिनमें एक संकल्पमय स्थिरता छोड़ गया था—यह है संक्षेप में बीबी का चित्र जो मेरे मन पर आज भी वैसा ही गहरा अंकित है जैसा कि पहली भेंट के दिन था। इस चित्र में कुछ ऐसी स्थिरता थी जो आयु और स्वास्थ्य के परिवर्तन को चुनौती देती हुई सदा एक-रस रही और जीवन पर्यन्त रहेगी।

बीबी के साथ मैं लगातार काफ़ी दिनों तक कभी नहीं रहा परन्तु हमारे संसर्ग में विस्तार न हो कर, घनता थी। मै २-१ दिन जितने समय भी मेरठ रहता पूरे समय उन्हीं के पास रहता, और कहीं नहीं जाता था। यदि किसी कार्यवश जाता भी तो बीबी को अच्छा नहीं लगता था और वे कहतीं : तुम न जाने किस चक्कर में घूम रहे हो भैया, बीबी के पास तो नाम करने आये हो। दो-एक बार के इस उपालम्भ का परिणाम यह हुआ कि मैं जब उनके पास जाता था तो और सभी काम-काज, मिला-भेंटी से मुक्त होकर ही जाता

था। इस एकाध दिन में बीबी को घर-बाहर की अनेक बातों का तफ़सील देनी होती थी, अनेक उपदेश ग्रहण करने होते थे, एकाध बार भर्त्सना की भी नौबत आ जाती थी। इन बातों में बीबी का दृष्टिकोण इतना हार्दिक और उन्मुक्त रहता था कि प्रयत्न करने पर भी कुछ छिपाने की सम्भावना नहीं थी। उस तरफ़ दुराव-छिपाव का इतना पूर्ण त्याग था कि मेरी तरफ़ से भी किसी प्रकार के दुराव-छिपाव की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। इस बातचीत का कोई क्रम नहीं था। इसमें पढ़ाई, लिखाई, साहित्य-चर्चा से लेकर मेरी और उनकी घर-गृहस्थी की समस्याएँ, नौकरी और आय से लेकर जीवन-दर्शन के अनेक पहलू, नित्यप्रति के खाने-पीने की बात से लगा कर अंतरंग मित्रों और परिचितों की कड़वी-मीठी चर्चा तक न जाने क्या-क्या आ जाता था। एकाध दिन रहकर जब मैं चलने लगता और कुछ तो गाड़ी छूट जाने के डर से और कुछ आदत से मजबूर होकर हड़बड़ी करता तो वे सदा यह वाक्य कहा करती थीं—मैं तभी तो तुम से कहूँ हूँ कि एकाध महीना मेरे पास आकर रह जाओ, तुम्हारी ये सारी हड़बड़ी की आदतें ठीक हो जायेंगी। यह सुनकर किशन [भाई कृष्णचन्द्र] और रामअवतार, जैसे किसी पूर्व-निर्णीत तथ्य का संकेत करके हंस देते।

बीबी के चरित्र की प्रमुख विशेषता स्पष्टत: ही उनकी स्नेहशीलता थी। यह एक ऐसा प्रत्यक्ष और सहज गुण था कि उनके साथ एक बार का ही सम्पर्क व्यक्ति के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाता था और कहीं बाहर भेंट करने वाला व्यक्ति उनसे घर पर मिलने के लिये और घर पर मिलने वाला व्यक्ति उनके साथ एक-दो दिन रहने के लिये लालायित हो उठता था। अपने समवयस्क और छोटों को वे अनायास ही भैया शब्द से सम्बोधित कर उठती थीं—यह उनका स्वभाव बन गया था, उनको इसके प्रयोग के लिये पात्र-अपात्र, परिचित-अपरिचित का भेद नहीं करना पड़ता था। उनका यह सहज सिद्धांत था [जिसे जहाँ तक मुझे स्मरण है, उन्होंने कभी भी दार्शनिक रूप में व्यक्त नहीं किया] कि इस जीवन में जो भी मिले उसे सहज आत्मीयता का भागीदार बनाना श्रेयस्कर ही होता है। अतएव उनसे भेंट करने वाला कोई भी व्यक्ति सहज ही उनकी आत्मीयता का अधिकारी—बहुत-कुछ हद तक 'भैया' बन जाता था, यद्यपि उनकी प्रतिक्रियाएँ सदैव ही अत्यंत प्रबल होती थीं और बाद में अनुकूल-प्रतिकूल, अपने-पराये का निर्णय करने में उन्हें देर नहीं लगती थी। परन्तु उनकी पहली प्रतिक्रिया अनिवार्य रूप से आत्मीयता की होती थी। यह विशेषता निस्संदेह ही सहज मानव-गुण पर आधृत है और इसमें सन्देह नहीं कि होमवती जी के व्यक्तित्व का मूलाधार यही सहज मानव-गुण था।

परन्तु इसके आगे यह कहना ठीक नही होगा [जैसा कि श्री वात्स्यायन ने लिखा है] कि उनका स्नेह अपने सहज रूप में शुद्ध मानव-स्नेह था जो व्यक्ति और परिवार-सम्बन्ध आदि की सीमा से मुक्त था।

उनके स्नेह में अत्यंत प्रबल वैयक्तिकता थी। जिसकी आत्मीयता मे उन्हे विश्वास हो जाता था, उसको बीबी का स्नेह चारों ओर से घेर लेता था। उनका स्नेह वृक्ष की छाया नहीं था जिसके नीचे कुछ देर तक विश्राम करके आप अपना रास्ता लें। उसकी उपमा एक पुराने हिन्दू परिवार के घर से दी जा सकती है जिसमे आप पूर्ण प्राचुर्य और ममत्व का उपभोग करते हुए रहें, और यदि बाहर जायें तो आज्ञा लेकर जाएँ। उनका यह स्नेह-आग्रह स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष आदि से सर्वथा मुक्त था परन्तु उनके स्नेह का यह स्वभाव था कि किसी प्रकार प्रतिदान न चाहते हुए भी अपने अधिकार में किसी प्रकार की बाधा सहन नहीं कर सकता था। मुझे इस प्रसंग में एक घटना का स्मरण है। मेरठ में साहित्य सम्मेलन के अवसर पर मैं वहीं ठहरा था। मेरी एक महिला मित्र ने कुछ साहित्यकार बन्धुओं को अपने घर भोजन के लिये निमंत्रित किया था; उनका अनुरोध था कि मैं भी अवश्य आऊँ, और मेरी भी इच्छा थी ही। परन्तु बीबी की अनुमति कैसे ली जाये ? मैंने उन महिला से कहा कि आप ही कहिये। उन बेचारी ने सानुनय बीबी से मेरे लिये अनुमति माँगी। परन्तु बीबी ने तुरन्त ही उन्हें कोरा जवाब दे दिया—'ना बीबी, यहाँ तो ये कभी-कभी एकाध दिन के लिये आते हैं, इन्हें यहीं रहने दो।' और मेरी ओर एक कठोर दृष्टि डालते हुए कहा—'बाकी इनसे पूछ लो, ये चाहते हों तो चले जाएँ।' मेरे जाने का सवाल ही नहीं था। जब वे महिला जाने लगीं तो मैं कुछ दूर तक उनके साथ गया और अत्यंत प्रार्थी स्वर में उनसे क्षमा माँगने लगा। उन्होंने कहा : 'यह तो कोई बात नहीं है, पर मुझे आश्चर्य होता है कि आप यहाँ रह कैसे लेते हैं; मेरा तो दम घुटने लगता है ! मुझे तो ऐसा लगता है कि इनके साथ अपने व्यक्तित्व का लोप करके ही रहा जा सकता है।' इस हद तक तो नहीं पर बात कुछ-कुछ ऐसी अवश्य थी। मैंने कहा : हाँ, इनका स्नेह इतना आग्रही है कि उसके साथ प्रतिवाद या प्रतिरोध करके चला नहीं जा सकता। पहले तो मुझे भी यह व्यवहार बहुत अखरता था और मैं कभी व्यक्त रूप से और कभी वैसे ही बच निकलता था परन्तु एक विशिष्ट घटना ने मुझे सर्वथा निरस्त्र कर दिया। वह घटना इस प्रकार है : हिन्दी साहित्य परिषद्, मेरठ, का पिछला अधिवेशन समाप्त हो जाने पर उसमें पढ़े गये निबन्धों के प्रकाशन की व्यवस्था की गई। इस अधिवेशन का व्यवस्था-भार बीबी ने मेरे ही ऊपर डाल

दिया था । निदान इस संग्रह के सम्पादन आदि का कार्य भी मुझे ही सौंपा गया। कार्य जब लगभग समाप्त हो चुका था, तो किसी बात पर भाई कृष्णचन्द्र और मुझ में थोड़ी ग़लतफ़हमी हो गई । बीबी इस बीच में पड़ी पर उन्हें भी शायद वही भ्रम हुआ और उन्होंने अपने पत्र मे मेरे ऊपर कुछ हल्के-से व्यंग्य कस दिये। वैसे, कोई विशेष बात नहीं थी, पर उस प्रसंग में मुझे यह बहुत बुरा लगा क्योंकि उन्होंने और कृष्णचन्द्र दोनों ने मेरा आशय गलत समझा था और वे उलटे मुझ पर ही व्यंग्य कस रहे थे । अतएव मैंने भी उनको कठोर-सा उत्तर उन्हें लिख दिया । मेरे इस निर्मम उत्तर ने बीबी के मन की वेदना को गहरे में जाकर छू दिया और उन्होंने एक लम्बा पत्र मुझे लिखा जिसकी मार्मिकता शब्दातीत थी। साहित्य और जीवन के बहुत ही कम पत्र ऐसे हैं जिनका मेरे मन पर उतना गहरा प्रभाव पड़ा हो। उस पत्र ने मुझे सर्वथा निरस्त्र कर दिया और मैं, बौद्धिक दृष्टि से अपने को निर्दोष मानता हुआ भी, एक विचित्र ग्लानि का अनुभव करने लगा । अंत में, अपने पक्ष का पूर्ण समर्पण करके पत्र द्वारा चरणस्पर्श-पूर्वक क्षमा-याचना करके ही मैं उस ग्लानि से मुक्त हो सका । उस घटना के बाद मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता था । सोचता : दो-एक दिन तो उनके पास रहना ही होता है उसमें भी क्यों व्यर्थ ही प्रतिवाद किया जाये ।

यह बीबी के व्यक्तित्त्व का एक पक्ष था । हृदय-पक्ष के साथ उनका विवेक-पक्ष भी अत्यन्त पुष्ट था। वे बौद्धिक नहीं थीं; वर्तमान युग की बौद्धिकता से उन्हें घृणा थी । जीवन के किसी भी क्षेत्र में संस्कार की अवहेलना उन्हें अप्रिय थी और आधुनिक बौद्धिकता में प्रायः संस्कार का निषेध ही रहता है । वे परि-वार में, और परिवार से बाहर समाज में, सर्वत्र मर्यादा की क़ायल थीं । गहरी चारित्रिक मर्यादा के अतिरिक्त व्यावहारिक मर्यादा के प्रति भी उन्हें उतना ही आग्रह था । लड़कियों को सिर उघाड़े देखकर वे प्रायः खीझ उठती थीं । चापल्य के प्रति वे कठोर थीं और उसकी भर्त्सना में कभी-कभी अत्यन्त निर्मम हो जाती थीं । इसी प्रकार प्रदर्शन और दम्भ उन्हें असह्य था । दम्भ के साथ उनका निर्वाह एक दिन सम्भव नहीं था । उनके साथ हार्दिकता के स्तर पर ही मिला जा सकता था । जीवन के तीव्र अनुभवों ने उनकी प्रतिभा को माँज दिया था और उन्हें समझने और परखने की विचित्र शक्ति प्राप्त हो गई थी । व्यक्ति और स्थिति को समझने में उन्हें देर नहीं लगती थी। इसीलिये क्या गृहस्थ के छोटे आँगन में, और क्या समाज के विस्तृत क्षेत्र में, वे अद्भुत आत्म-विश्वास और कुशलता के साथ व्यवहार करती थीं । अपने गृहस्थ का सारा प्रबन्ध अंत तक उनके ही हाथ में पूरी तरह रहा और, विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं,

जिस दक्षता से वे अंत तक सीमित आय में परिवार की गरिमा बनाये रहीं उसको देखकर आश्चर्य, चकित हो जाना पड़ता था। उनकी व्यवस्था में अद्भुत क्रम और स्वच्छता थी, अपने विवेक की सहायता से वे किसी भी कार्यक्रम की एक अत्यन्त स्वच्छ रूप-रेखा निश्चित कर लेती थीं और अपनी इच्छा-शक्ति और आत्म-विश्वास से उसके परिपालन पर वे अधिकतर नियन्त्रण रखती थीं। गार्हस्थिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों मे उनकी प्रबन्ध-पटुता का यही रहस्य था।

राग-विराग का यही सम्बल और उससे निर्मित इन्हीं जीवन-तत्त्वों को लेकर उन्होंने साहित्य में प्रवेश किया था। उच्च मध्य-वर्ग की गार्हस्थिक गरिमा और संस्कार, भाग्य की विडम्बना और उससे उद्भूत जीवन-व्यापी पीड़ा, अति-शय द्रवणशीलता तथा ममत्व, जीवन के तीव्र अनुभव और उनसे प्राप्त स्थिर विवेक तथा व्यक्ति और स्थिति को परखने वाली [illegible] दृष्टि : बीबी के व्यक्तित्व के ये ही मूल तत्व थे। वे बहुत अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थीं, हिन्दी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा का ज्ञान उन्हें नहीं था, और आधुनिक अर्थ में उन्हें विदुषी नहीं कहा जा सकता था। पर इस कारण न तो उन्होंने किसी हीन भाव का अनुभव किया और न इस अभाव को कभी अपनी आत्माभिव्यक्ति में बाधक ही होने दिया : वैसे उन्होंने बड़ा स्वाध्याय किया था; हिन्दी कथा-साहित्य और काव्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। उनकी अपनी चेतना का धरातल गार्हस्थिक ही था, पर वे सामाजिक और थोड़ी-बहुत राजनीतिक समस्याओं को अच्छी तरह समझती थी, और इन विषयों पर उनकी प्रतिक्रिया काफ़ी जीवन्त होती थी क्योंकि वह पुस्तक-ज्ञान से नहीं जीवनानुभूति से प्रेरित होती थी। मनोविज्ञान की सिद्धान्त-चर्चा में उन्हें बड़ी रुचि थी; मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों और उनकी सिद्धान्त-शृंखलाओं से अनभिज्ञ होती हुई भी वे मनो-विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझती थीं। उपर्युक्त गुणों के कारण ही उनकी कुछ कहानियाँ बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। जटिलताओं से मुक्त उनका ऋजु-सरल मनोविज्ञान, जो तीव्र अनुभूति से प्रेरित और स्वच्छ विवेक से नियन्त्रित है, किसके मन पर सहज प्रभाव नहीं डालता ?

आज बीबी केवल कीर्ति-शेष हैं। इस लेख को लिखते-लिखते अनेक बार उनकी वह स्नेहार्द्र मुद्रा मेरे सामने आ खड़ी हुई है और मेरे लिए लिखना कठिन हो गया है। वे न जाने कहाँ होंगी, कौन बता सकता है ? फिर भी मेरा स्नेह-विश्वासी मन कहता है कि वे कहीं भी हों अपने स्नेह-भाजनों की अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलि को वे अस्वीकार नहीं करेंगी।

खण्ड २ : विश्लेषण

: एक :

जय भारत

जय भारत में महाभारत की संपूर्ण कथा है,नहुष के वृत्तान्त से लेकर पांडवों के स्वर्गारोहण तक की पूरी कथा इसमें पद्य-बद्ध है। यह ग्रंथ, जैसा कि कवि ने निवेदन मे स्वयं ही स्पष्ट किया है, एक समय की कृति नहीं है। इसमें समय-समय पर लिखी हुई महाभारत-सम्बन्धी रचनाएँ संग्रथित है। इनमें से कुछ रचनाएँ जैसे कि केशों की कथा, बक-संहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री आदि तो गुप्त जी के कृतित्व के आरम्भिक काल की रचनाएँ हैं, नहुष आदि मध्य-कालीन हैं, और शेष उत्तर-कालीन है। इस प्रकार जय भारत राष्ट्र-कवि के सम्पूर्ण रचना-काल का प्रतिनिधि ग्रंथ माना जा सकता है, और उसमें—कवि के अपने शब्दों में—उनकी लेखनी के क्रम-विकास की रूप-रेखा स्पष्ट रूप से मिल जाती है। इस ग्रंथ मे स्वभावतः कथा का प्रवाह आद्योपान्त एक-सा नहीं है। कहीं तो वह पहाड़ी नदी के समान तीर की तरह आगे बढ़ती है और कहीं जैसे चौरस भूमि पाकर विरम जाती है। शैली-भेद के कारण यह वैषम्य और भी उभर आता है क्योंकि आरम्भिक शैली में जहाँ फैलाव है वहाँ उत्तर-काल की शैली समास-गुण-प्रधान है। इस प्रकार कथा-वर्णन में वह वेगवान धारा-प्रवाह नहीं है जो महाकाव्य में होना चाहिए, और जिसमें मैथिलीशरण जी की लेखनी अत्यंत समर्थ है। खंड-रूप से लिखी हुई वस्तु में प्रवाह आना सम्भव भी नहीं है। हाँ, जहाँ कवि को थोड़ा भी अवसर मिला है—जैसे 'युद्ध' में, ऐसा अनायास ही हो गया है। दूसरी कठिनाई जय भारत के कथा-वर्णन में यह आ गई है कि एक अत्यंत घटना-संकुल तथा विस्तृत कथा को सूत्र-बद्ध करने के लिए कवि को जिस समास-शैली का प्रयोग करना पड़ा है उसके लिए महाभारत की सभी सूक्ष्म घटनाओं के ज्ञान का पाठक में आरोप करना अनिवार्य हो गया है, जो वास्तव में होता नहीं है क्योंकि आज के पाठक के पास महाभारत तथा पुराणादि का उतना सम्पूर्ण पृष्ठाधार नहीं है। इसलिए कहीं-कहीं वांछित प्रसंग अथवा पात्र के परिचय के अभाव में पाठक का मन उलझ जाता है और उसकी अतृप्त जिज्ञासा को ऐसा लगता है मानों कथा का सूत्र भंग हो गया हो। परन्तु ऐसा

होता नही हैं, कथा का अन्विति-सूत्र कहीं भी भंग नहीं हुआ। वास्तव में केवल वर्णन (Narration) की दृष्टि से गुप्त जी की कला और भी निखर आई है। नवीन स्थलों में आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग कवि ने इतनी सफ़ाई से किया है कि सूत्र आप से आप बँधता चला जाता है। 'कौरव-पांडव' जैसे प्रसंग मेरे कथन की पुष्टि करेंगे।

इतिहास-पुराण आदि पर आश्रित काव्यों का सबसे महत्वपूर्ण तत्व होता है कथा और चरित्र का पुनर्निर्माण और उसका मूलवर्ती दृष्टिकोण, क्योंकि केवल कथा-वर्णन तो अपने आप में लक्ष्य हो नहीं सकता, और विशेषकर पुरानी कथा की आवृत्ति मात्र तो कोई क्यों करेगा ? यहीं कवि की सर्जना-शक्ति और मौलिक प्रतिभा की परीक्षा होती है। इसी प्रकार एक युग का कवि दूसरे युग की कथा को और उसके द्वारा उस युग की आत्मा को अपने युग की आत्मा में रचा लेता है। गुप्त जी ने यों तो महाभारत की घटनाओं में परिवर्तन प्रायः नहीं के बराबर ही किया है [इस दृष्टि से साकेत में राम-कथा के साथ उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता बरती है] परन्तु इन घटनाओं का पुनराख्यान कवि का अपना है। इस पुनराख्यान के मूल आधार दो हैं : एक युगोचित विवेक-बुद्धि और दूसरा युग-धर्म। महाभारत की कथा में अति-प्राकृतिक एवं अति-मानवीय तत्वों का समावेश स्वभावतः ही अधिक है। आज उनको मन में उतार लेना सहज नहीं है, इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी घटनाएँ भी हैं जो आज असंगत अथवा अनुचित भी प्रतीत हो सकती हैं। कवि ने इनका विवेक और बुद्धि के द्वारा समाधान करने का सत्प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए केवल एक घटना लीजिए—महाभारत की सब से रोमांचक घटना : द्रौपदी-चीर-हरण। आज का पाठक न तो इस घटना की नग्नता को ही सहन कर सकता है और न व्यास के समाधान को ही समझ सकता है। ऐसी स्थिति में कवि का कर्तव्य-कर्म तथा दायित्व और भी कठिन हो जाता है। अपने युग को पकड़े या कथा के युग को ? मैथिलीशरण गुप्त ने ऐसे स्थलों पर कौशल से काम लिया है और दोनों की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। चीर-हरण में द्रौपदी जहाँ एक ओर भगवान की शरण में जाती है वहाँ अपने आत्म-बल द्वारा दुःशासन के मन में भीति भी जगाती है :

रे नर, आगे नरक-वह्नि में तू निज मुख की लाली देख,
पीछे खड़ी पंचमुख शिव पर नग्न कराली काली देख।

इसके परिणाम-स्वरूप दुःशासन का पापी मन और शरीर भय से स्तंभित हो जाते हैं :

सहसा दुःशासन ने देखा अंधकार-सा चारों ओर,
जान पड़ा अम्बर-सा वह पट, जिसका कोई ओर न छोर।
आकर अकस्मात अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया,
कर जड़ हुए और पद काँपे, गिरता-सा वह बैठ गया।

कवि इतने पर ही सन्तुष्ट नहीं होता, घटना को और भी विश्वसनीय बनाने के लिए वह तत्काल ही गांधारी को पाप-सभा में उपस्थित कर देता है। गांधारी की सामयिक उपस्थिति एक ओर जहाँ दुःशासन की असमर्थता को और भी निश्चित कर देती है वहाँ दूसरी ओर उस आघात का पर्याप्त शमन भी करती है जो इस नंगी तलवार जैसी घटना के द्वारा पाठक के मन पर अनायास ही हो जाता है। उस भयंकर पाप का प्रक्षालन गांधारी के इन ग्लानि-विगलित अश्रुओं द्वारा ही हो सकता था :

सिहर अंध पति से वह बोली सफल अन्धता अपनी आज,
नहीं देखते अपनों से ही जो हम अपनी लुटती लाज।

× × ×

भाई से पितृ-कुल पुत्रों से पतिकुल मेरा नष्ट हुआ,
अन्तर्यामी को ही अवगत, मुझको कैसा कष्ट हुआ।

× × ×

हाय लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई लक्षित क्या,
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या ?

इतना ही नहीं कवि ने इस पाप-प्रसंग के मार्जन के लिए द्रोण और भीष्म को भी वहाँ से हटा दिया है और कर्ण को भी बाद में पश्चात्ताप करने पर विवश किया है :

मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना
कृष्णा का अपमान।

इसी प्रकार आप चाहें तो एक प्रसंग और भी लिया जा सकता है : द्रौपदी का पंच-पत्नीत्व : आज यह प्रसंग भी साधारणतया मन में नहीं उतर सकता। युधिष्ठिर और सहदेव दोनों की भोग्या कृष्णा का चित्र मन में किसी प्रकार भी सुरुचि उत्पन्न नहीं करता। उसे पचा लेने के लिए या तो अंधी श्रद्धा की अपेक्षा है या फिर अंधे विज्ञान की। गुप्त जी के संस्कारों को दोनों ही स्वीकार्य नहीं। अतएव उन्होंने फिर नीति और विवेक का आँचल पकड़ा है। पहले तो कवि ने विवेक का आँचल पकड़ा :

बोले धर्मात्मज धृतिशाली,
वर पार्थ, वधू है पांचाली।
दो वर ज्येष्ठ का पद पावें,
दो देवरत्व पर बलि जावें।
भोगें यों पाँचों सुख इसका।

परन्तु इतनी दीर्घ परम्परा का तिरस्कार भी गुप्त जी का आस्तिक मन कैसे करता ? आर्य-समाज की तरह यदि वे पार्थ को ही द्रौपदी का वर मान लेते तो उपर्युक्त व्याख्या सटीक बैठ जाती। परन्तु यह सम्भव नहीं हुआ और अंत में कवि को धर्म-नीति-व्यवस्था तथा पूर्व-कर्म आदि का आश्रय लेना पड़ा :

मानी गई माँ की वह आज्ञा अनजानी भी,
और व्यवस्थापक थे व्यास ऐसे ज्ञानी भी।
कहते हैं पाँच वार वर था महेश का,
और अनुमोदन था आप हृषीकेश का।
पांडवों के मन में ग्लानि नहीं होती है,
तो मैं मानता हूँ, धर्म-हानि नहीं होती है। आदि आदि।

इससे मेरा आपका परितोष न हो यह दूसरी बात है, पर इससे अधिक संस्कारी कवि के लिए सम्भव भी नहीं था। इनमें सबसे अधिक भव्य है पांडवों के देह-पात की घटना का पुनराख्यान। इस दृष्टि से मैं उसे इस काव्य का भव्यतम प्रसंग मानता हूँ। मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसंगों में ही खुल खेलती है। सुनिए सबसे पूर्व द्रौपदी गिरती है : **"गिरती हूँ, यह गिरी प्रभो,पर पहुँचूँगी तुम से पहले।"** युधिष्ठिर इसे अपनी मुक्ति का प्रथम सोपान मानते हुए कहते हैं : **"तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति यह पक्षपातिता मेरी ही।"**

युधिष्ठिर और आगे बढ़ते हैं। अबकी बार सहदेव गिरते हैं :

रुक कर न युधिष्ठिर ने उनसे चलते-चलते बस यही कहा,
तुम नहीं, गिरा तुम में मेरा रूपाभिमान जो उठा रहा।

फिर नकुल गिरे तो युधिष्ठिर ने उसे अपनी मति-गति के गर्व का ही विनाश माना। आगे अर्जुन गिरते हैं :

आगे चल गिरे धनंजय भी, "अब और नहीं उठता पद ही",
तुम नहीं गिरे, झड़ गिरा यहाँ तुम में मेरा मानी मद ही।

और अंत में :

बोले फिर भीम अंत में यों हे आर्य ! यहाँ मैं भी टूटा,
तुम छूटे नहीं तुम्हारे मिस, मेरा औद्धत्य यहाँ छूटा।

इस प्रकार युधिष्ठिर के सभी भौतिक बन्धन छूट जाते हैं और वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते हैं :

खुल गये सभी बन्धन मानो, अब आप आप में व्यक्त हुए ।

पुनराख्यान का दूसरा मूल आधार है युग-धर्म । गुप्त जी सच्चे अर्थ में इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं । वे द्वापर, त्रेता, सतयुग जहाँ कहीं भी गये हैं अपने युग को साथ ले गये हैं । आज का युग-धर्म है मानववाद और गुप्त जी ने महाभारत के पात्रों का पुनर्निर्माण इसी के आधार पर किया है । उदाहरण के लिए दुःशासन में भी गुप्त जी ने भ्रातृ-भक्ति खोज निकाली है :

इच्छा तुम्हारी अविचारणीया,
होती नहीं तो फिर सोचता मैं ।
खींचूँ न खींचूँ बल से सभा में,
दुकूल किंवा कच द्रौपदी के ।
कहे मुझे, जो कुछ लोक चाहे,
तो भी इसे कौन नहीं कहेगा ।
भाई नहीं किंकर मैं तुम्हारा,
मैं चाहता राज्य नहीं, तुम्हें ही ।

दुर्योधन को तो उन्होंने सुयोधन बना ही दिया है । उसका अंत हृदय-द्रावक है, यदि युधिष्ठिर की उपस्थिति न हो तो पाठक का साधारणीकरण उसी के साथ हो जाए ।

सबसे अधिक ध्यान उन्होंने युधिष्ठिर के चरित्रांकन पर ही दिया है । वैसे तो युधिष्ठिर अपने आप ही मानवता के प्रतीक हैं, फिर भी गुप्त जी ने स्थान-स्थान पर उनके मानवत्व को और भी निखार कर सामने रख दिया है । कवि के युगादर्श सत्य और अहिंसा को जैसे उनके व्यक्तित्व में आधार मिल गया है । मानवता की परीक्षा में तीन बार उत्तीर्ण कराकर कवि ने उन्हें ही अपना मूल पात्र माना है—'जय भारत' वास्तव में युधिष्ठिर की मानवता की ही "जय" है ।

: दो :

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' दिनकर की प्रौढ़तम काव्य-कृति है। पारिभाषिक रूप में तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है, परन्तु वस्तुतः न तो यह पौराणिक ही है और न प्रबन्ध-काव्य ही। यह तो अभी समाप्त होने वाले यूरोप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी चिंता-प्रधान कविता है। इसमें न तो कुरुक्षेत्र का घटना-चक्र है और न उसका क्रमिक निबन्ध—इसमें तो स्वयं कवि के शब्दों में उसका शंकाकुल हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा हैं। वास्तव में चिन्ता-प्रधान कविता की यही परिभाषा है—जब हृदय अपने उद्गार सहज और प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करता है तब गीति-कविता का जन्म होता है; और जब वह मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोलता है तो चिन्ता-प्रधान कविता का उद्भव होता है। चिन्ता-प्रधान कविता और नवीन बौद्धिक कविता में सबसे स्पष्ट अंतर यही है कि उसमें मस्तिष्क हृदय के स्तर पर चढ़कर बोलता है अर्थात् उसमें मस्तिष्क के विचार और तर्क-वितर्क भावना का आश्रय लेकर व्यक्त होते हैं, और इसमें हृदय की भावना विचार और तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर व्यक्त होती है। पहली में प्रेषणीय विचार और भावना माध्यम है, दूसरी में प्रेषणीय भावना है, और विचार माध्यम है—इसीलिए अपने सहज रूप में पहली की अपेक्षा दूसरी में काव्य-तत्व की प्रचुरता मिलती है। दिनकर ने स्वयं 'कुरुक्षेत्र' के प्रबन्ध-तत्त्व की सफ़ाई में कहा है कि इसके प्रबन्ध की एकता वर्णित विचारों को लेकर है, परन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त है। इसमें एकता विचार की बिलकुल नहीं है—वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया था। इस काव्य में कुरुक्षेत्र युद्ध का प्रतीक है, युधिष्ठिर और भीष्म कवि के तर्क और वितर्क अर्थात् विचार के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं, जिन पर आरूढ़ होकर उनके मन की द्विविधा समाधान की ओर दौड़ती है। युधिष्ठिर अहिंसा के प्रतीक हैं जो युद्ध को किसी परिस्थिति में भी उचित नहीं मानते हैं, और भीष्म न्याय-भावना के प्रतीक हैं जो अन्याय के दमन के लिए युद्ध को उचित ही नहीं, आवश्यक

भी मानते हैं। इन तीनों प्रतीकों को लेकर दिनकर ने युद्ध से विक्षुब्ध अपने हृदय और मस्तिष्क की संकुलता से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में उपर्युक्त दोनों पक्ष ही प्रबल है—और कवि के अपने मन की द्विविधा भी उतनी ही तीव्र है। वह उस प्रान्त का निवासी है जिनमें एक ओर प्रतापी मौर्य और गुप्त सम्राट हुए हैं, और दूसरी ओर भगवान बुद्ध। कहने का तात्पर्य यह है कि विनय और उदग्रता, क्षमा और शौर्य दिनकर के संस्कारों में रमे हुए हैं—इसीलिए वह इन दोनों पक्षों की अत्यन्त सशक्त और तीव्र अभिव्यक्ति करने में समर्थ हुए हैं।

देखिये महाभारत-विजेता धर्मराज युधिष्ठिर अपनी विजय को कुरुक्षेत्र में बिछी लाशों से तोल रहे हैं। सामने महाभारत के उपरान्त कुरुक्षेत्र का दृश्य है—

जहाँ भयंकर भीमकाय शव-सा निस्पंद, अशांत,
शिथिल-श्रांत हो लेट गया है स्वयं काल विक्रांत।
रुधिर-सिक्त अंचल में नर के खंडित लिये शरीर,
मृत्वत्सला विषण्ण पड़ी है धरा, मौन गंभीर।

× × ×

यह उच्छिष्ट प्रलय का, अहि-दंशित मुमूर्षु यह देश,
मेरे हित श्री के गृह में वरदान यही था शेष!

युधिष्ठिर एक साथ चीख उठते हैं:—

मनु का पुत्र बने पशु-भोजन मानव का यह अंत!
भरत भूमि के नर वीरों की यह दुर्गति, हा, हंत!

इस महाश्मशान के साथ जब वे अपनी विजय की तुलना करते है तो उन्हें सहज ही इसकी तुच्छता का ज्ञान हो जाता है—

कुछ के अपमान के साथ, पितामह,
विश्व-विनाशक युद्ध को तोलिये।

उनका न्याय-अन्याय का विचार ही मानो उस महानाश की ज्वाला में जल कर भस्म हो जाता है, और वे सोचते है कि—

द्रुपदा के पराभव का बदला कर देश का नाश चुकाना था क्या?' वे ग्लानि से अभिभूत हो जाते हैं उनकी विजय ही मानो उन पर व्यंग्य कर रही है—

एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर की जय की पहचान,
एक शुष्क कंकाल महाभारत का अनुपम दान।

यहाँ तक कि वे उससे डरने लगते है—उसका भोग करना उन्हें ऐसा लगता है

जैसा हाल ही में विधवा हुई किसी **'दुःखिनी के साथ ब्याह का साज संजोना'**।

इस प्रकार एक ओर कुरुक्षेत्र में होने वाले भयंकर रक्तपात और दूसरी ओर विजेता युधिष्ठिर के मन को कचोटने वाली तीव्रतम ग्लानि के द्वारा कवि ने युद्ध के विपक्ष में अपनी भाव-प्रेरित गंभीर युक्तियाँ उपस्थित की हैं।

इस पाप का युधिष्ठिर के मन पर ऐसा आतंक छा जाता है कि वे अपने को संपूर्ण मानवता के प्रति अपराधी मान बैठते हैं और लज्जा को छिपाने के लिए दुनिया को ही छोड़ कर भाग जाना चाहते हैं :

मानव को देख आँखें आप झुक जातीं, मन
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊँ बन में।

क्योंकि—

व्यंग्य से बिधगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
बन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा।

इसके विपरीत युद्ध का दूसरा पक्ष भी है—उसके समर्थन में मृत्युंजय भीष्म की भाव-दीप्त वाणी सुनिये :

है बहुत देखा सुना मैंने मगर, भेद खुल पाया न धर्माधर्म का।
आज तक ऐसा कि रेखा खींच कर, बाँट दूँ मैं पुण्य को औ' पाप को।
जानता हूँ किन्तु जीने के लिए, चाहिये अंगार जैसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है, जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

तप, करुणा, क्षमा, विनय, और त्याग—ये सभी व्यक्ति की शोभा हैं, परन्तु जब प्रश्न 'व्यक्ति' का न रह कर 'समुदाय' का हो जाता है, उस समय तो युद्ध द्वारा अन्याय का दमन मनुष्य का परम धर्म बन जाता है। और फिर युद्ध का होना किसी एक व्यक्ति या एक जाति पर निर्भर तो नहीं है—वह तो अनेक व्यक्तियों और जातियों के हृदय में न जाने कब से सुलगती हुई अग्नि का महा-विस्फोट है जो सर्वथा अनिवार्य होता है—कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए केवल युधिष्ठिर और दुर्योधन ही उत्तरदायी नहीं थे, और न केवल उनके परिवार ही; वह तो सम्पूर्ण भारतवर्ष का ही विस्फोट था—

न केवल यह कुफल कुरुवंश के संघर्ष का था—
विकट विस्फोट यह संपूर्ण भारतवर्ष का था।

न जाने कितने युगों से विश्व में विष-वायु बहती आ रही थी। अनेक योद्धा और अनेक वंश परस्पर वैर-साधन के लिए तैयार बैठे थे—और समर का कोई बड़ा आधार खोज रहे थे। कहीं कोई दूसरे की शूरता के प्रति ईर्ष्या से जल रहा था—किसी के हृदय में दूसरे की क्रूरता के प्रति क्षोभ था। कहीं एक

राजा का उत्कर्ष दूसरे राजाओं को खटक रहा था—किसी के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला जल रही थी। एक ओर राधेय कर्ण पार्थ-वध का प्रण निभाना चाहता था—दूसरी ओर द्रुपद गुरु द्रोण से वैर-शुद्धि के लिए व्यग्र था। इधर शकुनि अपने पिता का ऋण चुकाने के लिए दुर्योधन पर माया फैला रहा था, उधर भगवान कृष्ण के सुधारों से चिढ़े हुए राजाओं का अभिमान भीतर ही भीतर धुँधुआ रहा था। इसके अतिरिक्त और जो कुछ शेष था वह पांडवों के राजसूय ने पूरा कर दिया। इस प्रकार परस्पर के कलह और वैर से अपने आप ही सारा भारतवर्ष दो दलों में विभक्त हो चुका था—और दोनों ही दल

खड़े थे वे हृदय में प्रज्वलित अंगार लेकर—
धनुर्ज्या को चढ़ा कर म्यान में तलवार लेकर।

युद्ध के कारणों के इस क्रमिक विकास का, ज्वाला का प्रतीक लेकर, कवि ने अत्यन्त ही भाव-पूर्ण वर्णन किया है।

युद्ध-विषयक इन्हीं दो प्रतिक्रियाओं द्वारा विभक्त कवि का मन अंत में समाधान की ओर दौड़ता है। आखिर, इस द्विविधा का अंत कहाँ है? इसी का विचार करता हुआ वह फिर द्वापर के महाभारत को छोड़ बीसवीं शताब्दी के द्वितीय महायुद्ध की ओर लौट आता है—और बुद्धि के अतिचार में युद्ध के कारण की खोज करता है:

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश,
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।
चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान
मोम-सी कोई मुलायम चीज़
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज,

... ...

ले चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक है देह,
देवता हैं माँगते मन के लिये लघु गेह।

मानव-मन के देवताओं को यह लघु-गेह बुद्धि के विशाल कक्ष में न मिलकर हृदय के छोटे और गर्म कोने में मिलेगा; अर्थात् आज की विषमताओं का, जिनका सबसे भयंकर परिणाम युद्ध में प्रकट होता है, समाधान विज्ञान द्वारा सम्भव न होकर स्नेह द्वारा ही सम्भव है:

रसवती भू के मनुज का श्रेय
यह नहीं विज्ञान कटु आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।

मानव का मानव के प्रति यही मुक्त आत्म-दान अंत में जीवन के साम्य को जन्म देता है—वहाँ सारे वैषम्य दूर हो जाते हैं। वैयक्तिक भोगवाद इन वैषम्यों का मूल कारण है—इसी के कारण क्रमशः राज-तंत्र, दंड-विधान आदि शोषण की अनेक विधियों का जन्म हुआ है। इसका अंत करते हुए साम्य भाव की स्थापना ही मानो जीवन की मुक्ति है।

वल्कल-मुकुट, परे दोनों के छिपा एक जो नर है,
... ...
जिस दिन देख उसे पावेगा मनुज ज्ञान के बल से,
... ...
उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का,
उस दिन होगा शंख ध्वनित मानव की महा विजय का।

भीष्म पितामह युधिष्ठिर को अंत में यही उपदेश देते हैं—संन्यास, भाग्य-वाद, आदि सभी व्यक्तिवाद के छल-छंद है—वे तो जीवन से पलायन करने के मार्ग हैं—उन्हें मुक्ति-पथ समझना भ्रम है।

परंतु सुख का वास्तविक रूप क्या है, यह प्रश्न भी कम गंभीर नहीं है। साधारणतः इसके दो उत्तर सामने आते हैं—एक तो देह के आनंद का सर्वथा निषेध करता हुआ आत्मा के आनंद को ही सच्चा सुख मानता है, और दूसरा आत्मा के आनंद को मिथ्या कल्पना कहता हुआ सुख का अर्थ भौतिक उपभोग ही करता है। परंतु वास्तविक सुख दोनों के सामंजस्य में ही है—इसमें संदेह नहीं कि सुख का मूल आधार भौतिक ही है—

नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।

परंतु फिर भी लिप्सा पर विजय प्राप्त कर इस भौतिक सुख का संस्कार करना अनिवार्य है—

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को
करें विलीन देह को मन म नहीं देह में मन को।

स्पष्टतः हीं युद्ध-समस्या का यह मानववादी समाधान है। मिट्टी की महिमा, व्यक्तिवाद के सभी रूपों और उसकी सभी अभिव्यक्तियों का जैसे वैयक्तिक भोगवाद, राजतंत्र, दंड-विधान, सामाजिक वैषम्य और उधर संन्यास, आध्यात्मिक साधना आदि का तिरस्कार, समाजवादी जीवन-दर्शन के प्रभाव की ओर इंगित करता है। और निश्चय ही दिनकर को उसके प्रति गहरी आस्था है। परंतु उन्होंने उसके व्यापक और परिष्कृत रूप को ही ग्रहण किया है। उनके संस्कारों पर भारतीय आदर्शवाद का गहरा प्रभाव है इसीलिए उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक कहीं नहीं हो पाया—एक सूक्ष्म आदर्शोन्मुखी चेतना उसमें परिव्याप्त है जो उसे स्थूल ऐहिकता से ऊपर उठाये रखती है।

युद्ध के ये दोनों पक्ष वास्तव मे वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों के ही परिणाम है—और उनके बीच की द्विविधा जीवन में व्यक्ति-तत्व और समाज-तत्व के बीच की द्विविधा ही है—जो दिनकर के मन का मूल द्वंद्व है। इन दोनों पक्षों को कवि ने इतने सबल रूप मे रखा है कि पाठक दोनों ही दिशाओ में बहने लगता है। युधिष्ठिर और भीष्म दोनों के ही शब्दों मे अनिवार्य बल है, और उन्हें यह बल मिला है कवि की द्विधाभक्त अनुभूति से। केवल अंतिम सर्ग में आकर जब समाधान की खोज हुई है, तभी उसे बुद्धि पर आश्रित होना पड़ा है, और ऐसा प्रतीत होता है जैसे बुद्धिपूर्वक इस द्विविधा को मिटाने का प्रयत्न किया गया है। इसी लिए काव्य की दृष्टि से यह सर्ग थोड़ा निर्बल हो गया है—और विचारों में भी एक उलझन-सी पड़ गयी है। भीष्म के तर्क जो इससे पूर्व अनुभूति से पुष्ट थे यहाँ आकर सैद्धांतिक व्याख्यान का रूप धारण कर प्रायः अपनी शक्ति खो बैठे है।

'कुरुक्षेत्र' में आकर दिनकर की कला मे एक स्तुत्य प्रौढ़ता आ गई है। उन्होंने यहाँ विस्तृत काव्य-सामग्री का बिना आयास के प्रयोग करते हुए विराट और कोमल चित्र उपस्थित किये है। मृत्युंजय भीष्म का एक विराट चित्र देखिये:—

शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज जैसे,
थके-टूटे गरुड़-से, त्रस्त पन्नगराज जैसे,
मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को सँभाले।

नीचे की पंक्तियों में अन्याय-पूर्ण शांति को कितने अर्थ-पूर्ण शब्दों में चित्र-बद्ध किया गया है—

आनन सरल, वचन मधुमय है, तन पर शुभ्र वसन है,
बचो युधिष्ठिर! इस नागिन का विष से भरा दशन है।

इसी प्रकार अभिव्यंजना में भी अद्भुत वक्रता, अर्थ-गौरव और समास-गुण मिलता है।

दिनकर की कला की प्रमुख विशेषता उसकी सुख-सरल गति है। 'कुरुक्षेत्र' की काव्य-सामग्री के नियोजन में, शब्द-विन्यास में, छंद और लय की योजना में सर्वत्र यही सुख-सरल गति मिलती है। उसमें कहीं भी काट-छाँट, जड़ाव या बनाव-सिंगार का प्रयत्न नही और इसका कारण भी उनकी सबल अनुभूति ही है जो अनायास ही वाग्धारा में फूट उठती है।

हिंदी के कवियों ने युद्ध से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक कविताएँ लिखी है—परन्तु उनमें से अधिकांश स्थायी नही हो पायेंगीं—उसका कारण एक तो यही है कि इस युद्ध का प्रभाव हमारे ऊपर सीधा नही पड़ा। अतएव इससे हमें वह गंभीर प्रेरणा न प्राप्त हो सकी जो रस-दीप्त कविता को जन्म देती है। सब मिला कर दो-चार रचनाएँ ऐसी है जो आधुनिक हिंदी कविता की स्थायी निधि हो सकेंगीं और इनमें सबसे उत्कृष्ट हैं श्री सियारामशरण का 'उन्मुक्त' काव्य और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र'। इन दोनों के जीवन-दर्शनों में एक प्रकार का वैपरीत्य है; परन्तु उनमें एक बात समान है। वह यह कि युद्ध के प्रति इनकी प्रतिक्रिया शुद्ध मानवीय अथवा मानववादी है;सैद्धांतिक अथवा राजनीतिक नहीं। युद्ध के सामयिक रूप को न लेकर इन कवियों ने उसके शाश्वत-रूप को ही ग्रहण किया है—एक ओर युद्ध से होने वाले भीषण नर-मेध की मानव-वृत्तियों पर क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, और दूसरी ओर उसके आह्वान पर मनुष्य के संपूर्ण पौरुष और शौर्य की किस प्रकार परीक्षा होती है, मूलतः यही इनका वर्ण्य विषय रहा है। निदान उनमें युद्ध के विराट और करुण दोनों पक्षों का भव्य चित्रण मिलता है। दोनों ने अपने-अपने स्वभाव और संस्कारों के अनुसार इसी की अभिव्यक्ति की है। इसमें संदेह नहीं कि इन कवियों की बौद्धिक मान्यताएँ भी उनके साथ रही हैं—परन्तु वे अनुभूति की पोषक ही रही हैं – उसकी प्रेरक अथवा स्थानापन्न प्रायः नहीं हो पायी। इनकी सफलता का दूसरा कारण यह है कि इन्होंने युद्ध के विरुद्ध यों ही नारे बुलंद नहीं किये वरन् काव्य की व्यंजनात्मक शैली का प्रयोग किया है। सियारामशरण जी ने रूपक का और दिनकर ने कुरुक्षेत्र की पृष्ठ-भूमि का आश्रय लेकर हमारे संस्कार और कल्पना को भी जगाने में सफलता प्राप्त की है। इसीलिए औरों की अपेक्षा इनका प्रभाव अधिक सूक्ष्म और गहरा हो गया है। हिंदी में आजकल कोमल और मधुर भावना के

अमर कवि अनेक हैं—परन्तु विराट-भाव को अपने पौरुष-दीप्त स्वरों में बांधने वाले कवि प्रसाद और निराला के बाद मुश्किल से नज़र आते हैं। दिनकर का गौरव यह है कि उनको विराट और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त है। आज प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी का युग समाप्त-सा ही हो गया है, और अनेक प्रकार के नवीन जीवन-दर्शन तथा घोषणा-पत्रों के होते हुए भी हिंदी काव्य-धारा उतार पर है। जब मैं उनके उत्तराधिकारियों की ओर दृष्टि डालता हूँ तो सब से अधिक आशा दिनकर से ही होती है।

: तीन :

'हिमकिरीटिनी' और 'वासवदत्ता'

हिमकिरीटिनी (लेखक श्री माखनलाल चतुर्वेदी) और वासवदत्ता (लेखक श्री सोहनलाल द्विवेदी)—इन दोनों पुस्तकों को साथ-साथ लेने का एक विशेष कारण यह है कि इस वर्ष देव-पुरस्कार प्रतियोगिता में हिन्दी के एक दर्जन प्रतिनिधि विद्वानों की कलम से इन्हें क्रमशः पहला और दूसरा स्थान प्राप्त हुआ है। अतएव मैं समझता हूँ कि इन ग्रन्थों के विषय में किंचित् विस्तार से जानने की उत्कण्ठा होना स्वाभाविक ही है।

हिमकिरीटिनी

पं० माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व में मधुर कवि और ओजस्वी सैनिक एक आलिंगन-पाश में आबद्ध है—उनमें भावुक नारी और कर्मशील पुरुष का संयोग है। नवीन या दिनकर की भाँति ये एक पौरुषमय व्यक्तित्व की दो पृथक् अवस्थाएँ नहीं है—यहाँ तो एक ही व्यक्तित्व में दोनों तत्त्व मिल गये हैं और प्रायः एक ही क्षण में व्यक्त हो उठते हैं। इन दोनों तत्त्वों के साथ उनमें एक और तत्व स्पष्ट मिलता है—वह है उनका आत्मा की सत्ता के प्रति आकर्षण। उनकी आँखों को ग़ौर से देखिए, तो उनमें कुछ ही क्षणों में नारी, पुरुष और सन्त तीनों झाँक जाते हैं। आप कितनी ही देर देखिए—जीवन की वास्तविकता को आर-पार देखने वाला बौद्धिक भूलकर भी नज़र नही आयेगा। इन आँखों में तीक्ष्णता और चमक नहीं है, एक स्निग्ध धुँधलापन-सा है। जैनेन्द्र की आँखों से मिलाने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। एक जैसे तथ्य के प्रतिबिम्ब-चित्रों को ही ग्रहण कर भीग उठी हैं दूसरी जैसे उसको भेद आर-पार जाने के लिए चमक उठी हैं। यह भावुक और बौद्धिक का अन्तर है—माखनलाल जी की कविता की विशेषताएँ उनके व्यक्तित्व की इन्हीं विशेषताओं के आलोक मे पढ़ी और समझी जा सकती हैं—उनकी कविता में भावुकता (मधुर भावना) है, रहस्यात्मक प्रवृत्ति है और बौद्धिक पृष्ठ-भूमि के अभाव में एक धुँधली अस्पष्टता और असम्बद्धता है। जो कुछ है वह काफ़ी मधुर और ओजस्वी है पर यह प्रायः स्पष्ट नहीं है कि वह क्या है?

एकनिष्ठता का अभाव

बाह्य तथ्यों से प्रभावित होने वाली चित्त की वृत्ति को भावुकता कहते है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से अभिधार्थ मे भी भावुकता हृदय-द्रव है— उसका सीधा सम्बन्ध हमारे स्नायुओं में बहने वाली रक्त की धारा से है। बाह्य प्रभावों को ग्रहण करती हुई यह वृत्ति धीरे-धीरे एक सस्कार बन जाती है—और हम इसको भिन्न-भिन्न व्यक्तियों मे विभिन्न मात्राओं मे देखते है। इस अवस्था मे आकर बाह्य तथ्यों के साथ इसकी क्रिया-प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। एक ही वस्तु पर केन्द्रित होकर इसमें तीव्रता और गहराई आ जाती है, प्रभावों के पारस्परिक विरोध से इसमें बल आ जाता है, किसी प्रकार की एकनिष्ठता और अन्तर्विरोध न होने से केवल तरलता ही रहती है, और इधर बाह्य संवेदनाओं के प्रभाव को प्रकृत रूप मे ग्रहण करने से सरलता और स्पष्टता आ जाती है। माखनलाल जी की भावुकता में सरलता के साथ एक विचित्र संकुलता मिलती है। इनकी कविताओं को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके माधुर्य-भाव का आलम्बन व्यक्त और निश्चित नहीं है, इसलिए इनकी भाव-धारा को दिशा नही मिल पायी—वह एकनिष्ठ न होकर अनिर्दिष्ट बहती है। उसमें सरल गति न होकर भँवर है—अविच्छिन्न शृंखला नहीं है, असम्बद्धता है, जैसी कि छायावाद के प्रसव-काल की अन्य रचनाओं—'झरना' आदि में है।

छायावाद के आरम्भिक कवियो मे माखनलाल जी का भी नाम स्मरणीय है और उनके काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण सचमुच उसी काल मे हुआ है जब द्विवेदी-युग की इतिवृत्त-कविता से विद्रोह कर नवीन भावुकता आलम्बन की अस्पष्टता और अभिव्यक्ति की अपरिपक्वता के कारण धूमिल कुहरे मे भटक रही थी। उस समय के कवि को स्थूल विषयों से चिढ़ थी—वह सूक्ष्म की ओर आकृष्ट था, लेकिन इस सूक्ष्म की उसे कोई पहचान नहीं थी; कभी वह ब्रह्म प्रतीत होता था, कभी प्रकृति की चेतन सत्ता। उस युग के नवीन कवियों की शृंगार-भावनाएँ प्रकृत आलम्बन से च्युत होकर इसी तरह भटक रही थी। प्रसाद, निराला, पन्त, माखनलाल जी—सभी की उस समय रची हुई कविताओं में यही बात मिलेगी। परन्तु जहाँ अन्य कवियों की कृति के पीछे आरम्भ से ही एक दृढ़ बौद्धिक आधार था—प्रसाद मे शैव-दर्शन, निराला मे अद्वैतवाद, पन्त में भविष्योन्मुख आदर्शवाद—वहाँ माखनलाल जी में एक असम्बद्ध रहस्य-मय चिन्तन मात्र था। इसके अतिरिक्त चूँकि दूसरे कवियों ने कवि-कर्म को निष्ठा से ग्रहण किया था अतएव वे अभिव्यञ्जना के प्रति अत्यन्त सचेत रहे—पर माखनलाल जी का कार्य-क्षेत्र बहुत कुछ बँट जाने से वे इस क्षेत्र मे विशेष अभ्यास

नहीं कर पाये । परिणाम यह हुआ कि जहाँ अन्य कवि अपनी अनुभूति के स्वरूप को धीरे-धीरे पहचानते गये और फलतः उनकी कृतियाँ अधिक व्यक्त और स्पष्ट होती गयीं वहाँ हिमकिरीटिनी के कवि ने इस दिशा में कोई विशेष उन्नति नहीं की—उसकी नयी-पुरानी सभी कविताओं में एक-सी धूमिलता बनी रही ।

ओजस्विता का उद्गम

इन कविताओं की ओजस्विता का उद्गम है कवि की सक्रिय राष्ट्रीयता । ह राष्ट्रीयता कविता में केवल देश-भक्ति के रूप में ही व्यक्त हुई है । माखन ाल जी को गान्धी के प्रति असीम विश्वास और श्रद्धा है—उनकी अहिंसा में पूर्ण आस्था । उनके ये वीर गीत बन्दिनी वीरता के उद्घोष हैं जिनमें उत्साह और आक्रोश के साथ विवशता की करुणा भी मिली हुई है—इसलिए इसमें विजय का उत्साह नहीं—बलिदान का उत्साह है । इस प्रकार की कविताओं का सम्बन्ध प्रायः जेल से है । उनमें से बहुत-सी तो जेल में ही लिखी गयीं हैं । इन कविताओं में एक चीख़ है । 'कैदी और कोकिला' इसी प्रकार की कविता है—

काली तू, रजनी भी काली
शासन की करनी भी काली,
काली लहर कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली,
मेरी लोह-शृंखला काली,
पहरे की हुंकृति की व्याली,
तिसपर है गाली ऐ आली !
इस काले संकट-सागर पर
करने को मदमाती !
कोकिल बोलो तो !
अपने गतिवाले गीतों को
गाकर हो तैराती !
कोकिल बोलो तो ।

मैंने जैसा अभी कहा है, इन कविताओं में ओज और माधुर्य अविभक्त हैं—प्रमाण-स्वरूप यही कविता ली जा सकती है । जेल की काली रात में कोकिल की पुकार उनके हृदय में बसे हुए मधुर कवि और आत्माभिमानी सैनिक दोनों को एक साथ जगा देती है । हिमकिरीटिनी की ये कृतियाँ ही सबसे अधिक सफल

हुई है—इनका ओज कवि के भावों की संकुलता को भेद कर फूट पड़ा है—अभिव्यक्ति तीर की तरह सीधी है :

लड़ने तक महमान,
एक पूँजी है तीर कमान !
मुझे भूलने में सुख पाती।
जग की काली स्याही,
बन्धन दूर कठिन सौदा है,
मैं हूँ एक सिपाही।
सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती,
मुट्ठी में मन—चाही,
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है,
मैं हूँ एक सिपाही।

इन कविताओं की सबसे बड़ी बाधा है कवि की रहस्यात्मक प्रवृत्ति। यह रहस्यात्मक प्रवृत्ति छायावाद के प्रसव-काल की सबसे बड़ी व्याधि थी, जब रवीन्द्र-नाथ और विदेशी साहित्य के मोह से अभिभूत नये कवि की भावुकता अपने वास्तविक स्वरूप को न पहचान कर काल्पनिक रहस्यानुभूतियों से खेलने में अपना गौरव समझती थी। माखनलाल जी पर भी यह नशा काफ़ी गहरा है। राष्ट्रीय उत्साह उनके जीवन का सहज अंग रहा है और साधारणतः उसकी अभिव्यक्ति सीधी-सच्ची होनी चाहिये थी, पर ऐसा प्रायः नहीं हो पाया क्योंकि उनकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति भावुकता में रँगकर प्रायः उनकी ओजमयी वाणी के मुक्त प्रवाह को जकड़ लेती है।

कहने वालों ने ठीक कहा है कि हिमकिरीटिनी का प्रकाशन समय से बहुत बाद हुआ है। हिन्दी की रोमाण्टिक कविता के इतिहास में तो उसके महत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन के स्थूल तथ्यों से मन के 'साँवले शीशमहल' की ओर आँख उठाने वाले कवियों में माखनलाल जी को कैसे भुलाया जा सकता है? लेकिन ऐसी सम्पूर्ण कविताएँ जो काल के पृष्ठ पर अंकित रहेंगी शायद दो-चार ही हैं—कैदी और कोकिला, जवानी, मील का पत्थर, आदि—वसे मधुर-भाव-भरी असम्बद्ध पंक्तियाँ आपको कितनी ही मिल जायेंगीं।

वासवदत्ता

'वासवदत्ता' की कविताओं का आधार

वासवदत्ता की कविताएँ घटनाओं का आधार लेकर चलती हैं—इनमें से

अधिकांश में प्रवृत्ति और आदर्श का संघर्ष और अन्त में आदर्श की विजय की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है। इनमें प्रायः सभी में वैभव विलास की पृष्ठभूमि पर नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा है।

सोहनलाल जी द्विवेदी-युग की परम्परा के कवि हैं जिनकी प्रवृत्ति सदैव बहिर्मुखी रही है। फलतः उनकी कविता में युग की आवश्यकताओं की चेतना और उनके प्रति नैतिक उत्साह है। ये दोनों बातें उसे स्वभावतः ही गांधीवाद से सम्बद्ध कर देती हैं। गांधीवाद नीति के अतिरिक्त एक दर्शन भी है। पर सोहनलाल जी का उसके दर्शन से कोई सम्पर्क नहीं है। वे तो गांधीवाद के चारण हैं जो एक ओर खादी, किसान जैसे प्रतीकों, अथवा जवाहरलाल, मालवीय जी जैसे नेताओं या डाँडी-अभियान जैसी घटनाओं का जय-जयकार करते हैं, दूसरी ओर देश के प्राचीन त्याग और तपस्या (अहिंसा) का गौरव-गान गाते हैं। पहली श्रेणी की कविताएँ भैरवी में संकलित है, दूसरी श्रेणी की वासवदत्ता में। अतएव वासवदत्ता के आमुख में की हुई सोहनलाल जी की यह घोषणा कि 'भैरवी के साथ मेरी रचनाओं का एक युग समाप्त होता है, वासवदत्ता में मेरी कविताओं का नवीन युगारम्भ है' सत्य से दूर है। उनकी ये दोनों रचनाएँ एक ही युग की हैं—उनकी प्रेरणा एवं प्रवृत्ति में कोई मौलिक भेद नही है। दोनों का केवल विषय भिन्न है, धरातल और दृष्टिकोण एक है। यह धरातल, जैसा मैंने अभी कहा, नैतिक है, और वह दृष्टिकोण है नैतिक महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति। कवि का हृदय जिस तरह डाँडी के पथ पर चलते हुए गांधी के गौरव को सादर स्वीकार कर हर्षोच्चार करता है, उसी तरह गौतम को वासवदत्ता के प्रलोभन पर विजयी देखकर उनकी विजय का जय-जयकार करता है। सारांश यह कि वासवदत्ता की अधिकांश कविताएँ ऐसी कथाओं को लेकर चलती हैं जिनमें अन्तर्द्वन्द्व है।

कवि का दृष्टिकोण

इस प्रकार की कथाओं को तीन रूपों में उपस्थित किया जा सकता है—एक तो नाटकीय रूप में, जिनमें दोनों विरोधी भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व का तीखा चित्रण हो। ऐसा करना उसी कवि के लिए सम्भव है जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो, जिसने अपनी सूक्ष्म सत्ता में होने वाले चेतन और अचेतन प्रवृत्तियों के संघर्ष को झाँक कर देखा हो, जिसकी एक प्रवृत्ति में वासवदत्ता की उत्कटता हो, और दूसरी में गौतम की आत्म-शक्ति। दूसरा रूप हो सकता है इतिवृत्तात्मक जिसमें नैतिक उपदेश आदि के लिए कथा का सरल वृत्त-वर्णन हो, जैसा कि मैथिली-

शरण गुप्त के कुछ आख्यानों में हुआ है : इसके लिए केवल वर्णन-विवेक की आवश्यकता है। इन दोनों का मध्यवर्ती एक तीसरा रूप भी हो सकता है— इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि कवि स्वयं उस अन्तर्द्वन्द्व में होकर गुज़रा हो, लेकिन यह अनिवार्य है कि वह उस अन्तर्द्वन्द्व को पहचानता हो और अन्त में होने वाली आदर्श की विजय को स्वीकार करने में आनन्द का अनुभव करता हो। इस कोटि के कवि का आनन्द अन्तर्द्वन्द्व और उसके उपरान्त होने वाली विजय के गौरव की अनुभूति का आनन्द नहीं है—उसकी स्वीकृति भर का आनन्द है, इसलिए इस रूप में तीव्रता और गहराई नहीं मिलेगी, परन्तु ओज और स्फूर्ति मिलेगी। वासवदत्ता के कवि का दृष्टिकोण ठीक यही है। वह इन कथाओं में विद्यमान सूक्ष्म सत्ता के मन्थनकारी अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव नहीं कर पाया, केवल सानन्द स्वीकृत कर पाया है—उर्वशी, कुन्ती और कर्ण, कुणाल, महाभिनिष्क्रमण, सभी में। लेकिन इसके साथ ही उसमें केवल वृत्त-वर्णन मात्र भी नहीं है—उसके वर्णन में स्फूर्ति, ओज और वाग्मिता असंदिग्ध है जिसकी प्रेरणा अनुभूति के नहीं वरन् स्वीकृति के आनन्द में है। यही सच्चे चारण का दृष्टिकोण है और इसीलिए मैंने सोहनलाल जी को गांधीवाद का चारण कहा है।

ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि वासवदत्ता की शैली व्यंग्य-संकेतमयी न होकर मुखर है। संकेत और व्यंजना के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की सूक्ष्म कला उसके कवि में नहीं है—इसलिए जहाँ संकेत मात्र वांछित था, वहाँ कवि सविस्तर वर्णन कर प्रायः प्रभाव को नष्ट कर देता है। उदाहरण के लिए वासवदत्ता की कविता वहीं समाप्त हो जानी चाहिये थी जहाँ वासवदत्ता के पूछने पर कि 'कौन' ? गौतम उत्तर देते हैं—

मैं हूँ तथागत
आज आया हूँ अतिथि बन।

परन्तु कवि को इतने में सन्तोष कहाँ ? वह आगे गौतम के नसिंग का सविस्तार वर्णन देकर कथा के नाटकीय प्रभाव को नष्ट कर देता है। इसी तरह जहाँ कोई पात्र मौन या व्यंग्य के द्वारा प्रतिपक्षी को तिलमिला सकता था, वहाँ वह अभिशाप एवं दुर्वचनों की पूरी सूची समाप्त करके ही शान्त होता है। उर्वशी और अर्जुन का अन्तिम संवाद इसका साक्षी है। यह हुआ मुखरता का दोष, मुखरता का गुण है अव्याहत धारा-प्रवाह जो वासवदत्ता में अनिवार्यतः मिलता है।

: चार :

इरावती

कवि दिनकर की एक मार्मिक पंक्ति है—**'गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?'** गीत और अगीत के बीच एक और भी स्थिति है–अर्धगीत की। गीत का माधुर्य प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य है, अगीत का कल्पना-गम्य। किन्तु अर्धगीत का माधुर्य कितना करुण है। उसमें जो गीत है वह अगीत का संकेत देकर असहाय मौन हो जाता है ! विश्व के साहित्य में ऐसे काव्य अनेक हैं जो अर्धगीत ही रह गये। भारत में प्रवाद है कि बाण की कादम्बरी अपरिसमाप्त ही रह गई थी—अंत में उनके पुत्र ने उसे पूरा किया। एक किंवदन्ती के अनुसार चन्द भी ग़ज़नी जाने से पूर्व रासो को अपने पुत्र जल्हन के हाथ सौंप गये थे : **'पुस्तक जल्हण हत्थ दै गे गज्जन नृप काज।'** किन्तु आज तो वह भी संभव नहीं है। यदि कोई दूसरा प्रयत्न करके अपूर्ण को पूर्ण कर भी दे तो एक तो वह भिन्न कृति होगी–और दूसरे सहृदय-समाज उसे क्यों स्वीकार करेगा ? इस दृष्टि से ये अपूर्ण कृतियाँ अपनी अपूर्णता में ही महत्वपूर्ण हैं।

प्रसाद जी का उपन्यास इरावती उनके जीवन के समान ही अपूर्ण रह गया। यह उनका तीसरा उपन्यास था – इससे पूर्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक काव्यों, नाटकों तथा कहानियों आदि के अतिरिक्त कंकाल और तितली उपन्यासों का भी सृजन कर चुकी थी। ये दोनों उपन्यास सामाजिक थे – पर प्रसाद जी की प्रतिभा की सहज क्रीड़ा-भूमि तो भारत का स्वर्णिम इतिहास था। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसन्धान अथवा पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि की विस्तृत गवेषणात्मक भूमिकाएँ उनके पुरातत्व-प्रेम और ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि की साक्षिणी हैं। इतिहास के बिखरे सूत्रों को समन्वित कर उस कंकाल में प्राण-प्रतिष्ठा करने में उनकी कल्पना विशेष रूप से रमती थी। किन्तु नाटक में कदाचित् उसे वांछित अवकाश नहीं मिल पाया—और इसमें सन्देह नहीं कि दृश्यों में खण्डित नाटक के सीमित कलेवर की अपेक्षा उपन्यास का अखण्ड विस्तार इस प्रकार के कल्पना-विलास के अधिक अनुकूल है। प्रसाद के नाटकों के अध्येता के मन में अनायास ही यह

बात उठ आती थी—और वह वास्तव में बहुत दिनों से उनसे किसी ऐतिहासिक उपन्यास की आशा लगाये बैठा था। वह आशा इरावती में फलित हो रही थी किन्तु दैव के विधान से वह अपूर्ण ही रह गयी।

इरावती के केवल १०८ पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं—इतने ही लिखे गये थे। यह संभव था कि प्रकाशन से पूर्व सम्पादन करने में एकाध पृष्ठ छोड़कर कहानी को कहीं उपयुक्त विराम देने का प्रयत्न किया जाता, परन्तु वैसा नहीं हुआ—अंतिम शब्द तक प्रकाशित कर दिया गया है। अंतिम वाक्य अधूरा है: 'चतुष्पथ तथा और भी आवश्यक स्थानों पर उल्काएँ जल रही थीं। वर्षा कुछ कम............'

इरावती की कथा मौर्य साम्राज्य के अधःपतन-काल से सम्बद्ध है जिसे डा० जायसवाल आदि ने अंधकार-युग कहा है। उस समय शतधनुष के पुत्र बृहस्पतिमित्र मगध के सिंहासन पर आसीन थे। सम्राट अशोक और उसके द्वारा अर्जित मौर्य-वंश का वैभव-प्रताप छाया-शेष रह गया था। बौद्ध राज्य की अहिंसा दुर्बलता और पाखण्ड में परिणत हो चुकी थी। पश्चिम मे यवन, पूर्व में कलिंग से खारवैल, और दक्षिण से आन्ध्रों के आक्रमण का आतंक बढ़ता जा रहा था। उधर आंतर विद्रोह की अग्नि भी धीरे-धीरे सुलग रही थी—बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विद्रोह बल पकड़ता जा रहा था। मगध-नरेश के सेनापति, सामंत आदि सर्वथा असन्तुष्ट थे और कुचक्र का वातावरण तैयार हो रहा था। वृद्ध सेनापति के कान्यकुब्ज में वीरगति को प्राप्त हो जाने पर पुष्यमित्र सेनापति-पद पर आरूढ़ हुए और उनका प्रतापी आत्मज विदिशा का कुलपुत्र अग्निमित्र, जो अब तक निराश प्रेम और निरुद्देश्य साहसिकता का जीवन व्यतीत कर रहा था, खारवैल से लोहा लेने के लिए महानायक नियुक्त किया गया। खारवैल ने भगवान जिन की मूर्ति लौटाने के बहाने मगध-नरेश का आह्वान किया था—और भीरु तथा विलासी बृहस्पति ने उससे गुप्त संधि भी करली थी। पाटलिपुत्र में आतंक छाया हुआ था, नागरिकों में—विशेषकर धनिक वर्ग में—भगदड़ मची हुई थी। ये लोग राजगृह की पहाड़ियों में शरण ले रहे थे। यह तो कथा का बाह्य पक्ष है। कथा के अंतरंग पक्ष का सम्बन्ध इरावती से है। इरावती कदाचित् पाटलिपुत्र की नगर-नर्तकी थी—जो अग्निमित्र के प्रेम में असफल होकर महाकाल के मन्दिर में देवदासी हो गयी थी। बृहस्पतिमित्र की दृष्टि उस पर आरम्भ से ही थी—एक दिन महाकाल के मन्दिर में देवता के सामने नृत्य-निरत इरावती को धर्म के नाम पर विलासिता का प्रचार करने के

अपराध में बृहस्पतिमित्र ने भिक्षुणी होने का आदेश देकर बौद्ध विहार में भेज दिया। अग्निमित्र ने, जो उस समय वहाँ उपस्थित था, प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया, परन्तु इरावती ने स्वयं बन्दी बनने की इच्छा प्रकट की, और और विहार में चली गयी। विहार में एक रात को पूर्णिमा के वैभव से उद्दीप्त होकर वह अनायास ही नाच उठी—और इस प्रकार संघ के नियम का उल्लंघन करने के अपराध में उसे विहार से भी हट कर अंत में बृहस्पतिमित्र के अंतःपुर में आना पड़ा। इरावती के अतिरिक्त उपन्यास की दूसरी नारी पात्र है कालिन्दी। यह रहस्यमयी नारी नन्द-वंश की कन्या है जो अग्निमित्र की सहायता से अपने पूर्वज नन्दराज की निधि की कुंजी प्राप्त कर लेती है। रूप और यौवन से सम्पन्न कालिन्दी मौर्यों की शत्रु और अग्निमित्र पर आसक्त है। इन प्रमुख कथा-सूत्रों के साथ लिपटी हुई एक उपकथा और है जिसका सम्बन्ध श्रेष्ठि धनदत्त और उसकी स्त्री मणिमाला से है। इन उपकथाओं के सूत्र धीरे-धीरे आपस में संग्रथित होते जा रहे थे—और एक-दूसरे के साथ घात-प्रतिघात करती हुई वे आगे बढ़ रहीं थीं कि अकस्मात् ही सारा खेल बिगड़ गया, और एक अत्यंत सघन, कुतूहलमय दृश्य के बीचों-बीच कथा की गति सहसा रुक गयी: सन्ध्या के उपरान्त बादलों के साथ-साथ रात्रि का अन्धकार गहरा हो रहा है—वर्षा भी आरम्भ हो गई है। श्रेष्ठि धनदत्त के निवास-स्थान पर भोजनादि के उपरांत संगीत की गोष्ठी जमी हुई है जिसमें तीन स्त्रियाँ हैं—कालिन्दी, इरावती तथा मणिमाला, और चार पुरुष हैं धनदत्त स्वयं, अग्निमित्र, एक ब्रह्मचारी और एक संभ्रान्त आगुन्तक। यह आगुन्तक सगर्व अपनी वीणा-वादन-कला का प्रदर्शन कर रहा है—इतने ही में श्रेष्ठि-भवन को स्वस्तिक दल के सैनिक आकर घेर लेते हैं और सूचना मिलती है कि यह चौथा पुरुष—वीणा-प्रवीण आगन्तुक चक्रवर्ती खारवैल ही है। एक साथ खलबली मच जाती है—अग्निमित्र खारवैल की प्राण-रक्षा के लिए प्रतिश्रुत होता है।—बस यहीं यक्ष्मा-पीड़ित मेधावी कलाकार की उँगलियाँ काँप जाती हैं और लेखनी रुक जाती है।

इरावती का आधार इतिहास-पुष्ट है। उसकी प्रायः सभी मुख्य घटनाओं और पात्रों के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य वर्तमान है। प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण मुख्यतः पुराण, काव्य, शास्त्र, बौद्ध-जैन-साहित्य, तथा शिलालेखों के आधार पर हुआ है - और इन पर आश्रित स्मिथ, जायसवाल, त्रिपाठी तथा मजूमदार के इतिहास-ग्रंथ आज हमारे सामने हैं। डा० मजूमदार की धारणा है कि ब्रहँसतिमित्र—जिसका संस्कृत रूप स्पष्टतया बृहस्पतिमित्र है, उन मित्र राजाओं में से था जिन्होंने कदाचित् मौर्य-साम्राज्य के अधःपतन-काल में मगध

पर राज्य किया था। डा० जायसवाल वहसतिमित्र या बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का ही दूसरा नाम मानते हैं—प्राचीन भारत की पर्याय-नामों की प्रथा उस समय थी—जैसे चन्द्रगुप्त का नाम नगिगुप्त भी था। परन्तु अनेक साक्ष्यों के आधार पर आज यह मत खण्डित हो चुका है। प्रसाद जी ने अंतिम मौर्य-सम्राट बृहद्रथ का ही दूसरा नाम बृहस्पतिमित्र माना है। उनके इस निष्कर्ष का आधार क्या है यह कहना कठिन है क्योंकि इरावती के साथ उनका कोई ऐतिहासिक लेख संलग्न नहीं है। परन्तु बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र की अभिन्नता में उन्हें संदेह नहीं था। पुराणों में बृहद्रथ को शतधन्वा या शतधनुप का पुत्र कहा गया है—इरावती के बृहस्पतिमित्र के पिता का नाम भी शतधनुप ही है जिसकी मृत्यु का समाचार महाकाल के मन्दिर में प्राप्त होता है। बौद्ध राजाओं के नाम मित्र पर प्रायः रहते थे—अशोक की पुत्री का ही नाम संघमित्रा था—संघमित्र धम्म या धर्ममित्र नामों का उस युग में प्रचार था जो प्रायः धार्मिक उपाधि के रूप में ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार के किसी साक्ष्य या तर्क के आधार पर प्रसाद जी ने बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र को अभिन्न माना है। दूसरा पात्र है खारवैल जो इतिहास में कलिंग-नरेश चक्रवर्ती खारवैल के नाम से प्रसिद्ध है। पुरी में हाथीगुम्फा के शिलालेख में महामेघवाहन खारवैल के पराक्रम की प्रशस्ति मिलती है। उसने मगध-नरेश बृहस्पतिमित्र को हराकर अशोक की कलिंग-विजय का प्रतिशोध लिया था और मगध के राजा नन्द द्वारा अपहृत जैन-तीर्थंकर की मूर्ति उससे छीन ली थी। इरावती में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है–भेद केवल इतना ही है कि यह मूर्ति जिन-मूर्ति है और अपहर्ता नन्दराज न होकर सम्राट अशोक हैं। इतिहास में अशोक की कलिंग-विजय का ही उल्लेख है—किसी नन्द राजा के विषय में ऐसा उल्लेख नहीं है। इसीलिए प्रसाद जी ने यह संशोधन कर दिया है—या फिर सम्भव है उन्हें इसका आधार किसी अन्य ग्रन्थ में मिला हो। पुष्यमित्र और अग्निमित्र क्रमशः ब्राह्मण-राजवंश शुंग के प्रथम तथा द्वितीय सम्राट हैं। इतिहास के अनुसार पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति था, जिसने प्रतिज्ञा-दुर्बल मगध-नरेश का वध कर स्वयं राज्य-सत्ता हस्तगत कर ली थी। कालिदास के मालविकाग्निमित्र का नायक अग्निमित्र उसका पराक्रमी पुत्र था। इरावती में पुष्यमित्र वृद्ध सेनापति की मृत्यु के उपरांत पदारूढ़ होता है—और धीरे-धीरे शक्ति-अर्जन कर रहा है—जिससे अनुमान होता है कि इतिहास-प्रसिद्ध घटना के लिए भूमिका प्रस्तुत हो रही है। अब दो पुरुष पात्र रह जाते हैं – ब्रह्मचारी और धनदत्त और तीन नारी-पात्र : इरावती, कालिन्दी तथा मणिमाला। इनमें धनदत्त और उसकी

पत्नी मणिमाला जैसे श्रेष्ठि और श्रेष्ठि-पत्नियाँ-उस युग के धनिक-वर्ग के प्रतिनिधि हैं—वे व्यक्ति न होकर कदाचित् वर्ग-प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार कालिन्दी जैसी राजकुमारियों का अस्तित्व भी उस युग में सहज कल्पनीय है जो अपने पद-च्युत वंश का प्रतिशोध लेने के लिए राजनीतिक कुचक्रों में सक्रिय भाग लेती थीं। अब शेष रहे दो पात्र : ब्रह्मचारी और इरावती। इरावती उपन्यास की नायिका है और ब्रह्मचारी के हाथ में उपन्यास की कथा का मूल उद्देश्य-सूत्र है।

इरावती का स्पष्ट उल्लेख मालविकाग्निमित्र में है—वह सम्राट अग्निमित्र की दूसरी रानी है। नाटक में वह गौण पात्र है और केवल दो बार उपस्थित होकर मालविका के विरुद्ध अपने ईर्ष्या-ज्वलित असंयत स्वभाव का परिचय देती है। प्रसाद जी ने यह नाम तो निस्संदेह यहीं से लिया है—और बहुत सम्भव है इरावती ऐतिहासिक पात्र ही रही हो क्योंकि मालविकाग्निमित्र की कथा निश्चय ही कालिदास के बहुत-कुछ समसामयिक इतिहास पर ही आश्रित है। परन्तु चरित्र का विकास प्रसाद ने सर्वथा स्वतंत्र रूप में किया है—कहाँ कालिदास की ईर्ष्यान्ध गरिमाहीन इरावती और कहाँ प्रसाद की संयम, संस्कार तथा कला से अलंकृत इरावती ! इस दृष्टि से यह मालविका के अधिक निकट है। परन्तु वास्तव में ये दोनों पात्र इरावती और ब्रह्मचारी व्यक्ति तथा वर्ग दोनों से भी ऊपर प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इरावती भारत के प्राचीन वैभव की कला-प्रवृत्ति की प्रतीक है। उस युग में पुर-सुन्दरी के वरण की प्रथा प्रचलित थी ही। ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्राह्मण-दर्शन का प्रतीक है जो बौद्ध-धर्म के विरुद्ध फिर शक्ति-संचय कर रहा था। काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से इरावती राग-विराग से पुष्ट प्रसाद जी की कला-दृष्टि की और ब्रह्मचारी उनके उस स्वस्थ जीवन-दर्शन का प्रतीक है, जो उपभोग और संयम का पूर्ण समन्वय-रूप है। प्रसाद का स्रष्टा कलाकार आत्माभिव्यंजन के लिए ऐसे दो पात्रों की सृष्टि सर्वत्र करता रहा है। इन पात्रों को भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए क्योंकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्य-परक न हो परन्तु तत्व-परक अवश्य है—अर्थात् इनका यह विशेष नाम या रूप चाहे न रहा हो, परन्तु ये उस युग विशिष्ट की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं इसमें सन्देह नहीं—इनसे इतिहास जुटाने में कोई विशेष लाभ न होता हो परन्तु युग का इतिहास जगाने के ये अमोघ साधन हैं। ये तथ्य-संकलन में सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं। और ऐतिहासिक कथाओं में घटनाओं और नामों की अपेक्षा वातावरण का महत्व कहीं अधिक है क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और घटनाओं में न रहकर वातावरण में ही निहित रहती है। प्रसाद जी की ऐतिहासिक दृष्टि इस सत्य से परिचित थी। उन्होंने शिक्षालयों के लिए लिखे

हुए इतिहास-ग्रन्थों पर निर्भर न रह कर काव्य, शास्त्र तथा पुरातत्व-सम्बन्धी अभिलेखों के अध्ययन-मनन द्वारा प्राचीन भारत की आत्मा में प्रवेश कर उसके संस्कार अपनी आत्मा में रमा लिये थे। उनकी रोमानी सृजनात्मक प्रतिभा और प्राचीन भारत की आत्मा में इस प्रकार तादात्म्य स्थापित हो गया था। इसीलिए वातावरण की सृष्टि में उन्हें सहज दक्षता प्राप्त थी। प्राचीन युग की प्रवृत्तियों का जीवन्त वर्णन, प्राचीन नाम-उपाधियाँ, प्रथा-रीतियाँ, प्राचीन वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दों से सम्पन्न उनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा—सभी का इसमें विचित्र योग रहता था, परन्तु यह यान्त्रिक क्रिया नहीं थी। इन तत्वों के संयोजन मात्र से युग का इतिहास नहीं जगाया जा सकता। इतिहास की आत्मा को जगाने के लिए अपनी आत्मा में ही उसे रचाना पड़ता है। प्रसाद की ऐतिहासिक कला का यही रहस्य था। इस दृष्टि से इरावती उनकी और सभी कृतियों से भी अधिक सफल है। वास्तव में इस अपूर्ण कथा का सबसे उज्ज्वल पक्ष यही है। शतधनुष, बृहस्पतिमित्र, पुष्यमित्र, खारवैल, अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी, धनदत्त, मणिमाला, उत्पला आदि व्यक्तियों के नाम, कलिंग, विदिशा, रोहिताश्व, राजगृह, मुग्दगिरि, कुक्कुटाराम, आदि स्थानों के नाम, उधर चंक्रम उपोसथागार, महास्थविर, श्रामणेरी, संघाटी जैसी बौद्ध धर्म-सम्बन्धी शब्दावली, तथा महामात्य, संधि-विग्रहिक, महादण्डनायक, गुल्म, सदृश राजनीति के शब्द—प्राचीन हिन्दू-भारत का वातावरण उपस्थित करने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होते हैं। और फिर प्रसाद अपने उन अंतःस्थित संस्कारों की प्रेरणा से रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति, उत्सव आदि का इतना सटीक, अनुभूति-प्रवण वर्णन करते हैं कि समस्त वातावरण जगमग हो उठता है।

देशकाल या वातावरण के अतिरिक्त उपन्यास के तीन प्रमुख तत्व और हैं: कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य अथवा आधार-भूत जीवन-दर्शन। अपूर्ण उपन्यास के इन तीनों तत्वों के विषय में कथित के आधार पर कथनीय का अनुमान भर लगाया जा सकता है। जहाँ तक कथा-वस्तु का सम्बन्ध है, इरावती में प्रसाद जी की कला के इस दुर्बलतम अंग ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। प्रसाद की कथा-वर्णन शैली का—उनके नाटकों, उपन्यासों तथा महाकाव्य सभी में—यह प्रमुख दोष है कि दार्शनिक विश्लेषण और रम्य कल्पना-विलास के आवर्तों में कथा उलझ कर गतिरुद्ध हो जाती है—या ऋजु विकास-पथ छोड़ कर इधर-उधर फैल जाती है। इरावती में प्रसाद जी ने आरम्भ से ही संयम से काम लिया है और कथा के सूत्रों को कस कर हाथ में रखा है।

इरावती के १०८ पृष्ठों में वर्णित घटनाओं में पूर्ण अन्विति है। मुख्य ऐतिहासिक कथा का सूत्र अभी बृहस्पतिमित्र के हाथ में है, परन्तु धीरे-धीरे पुष्यमित्र के हाथ में आता जा रहा है। दूसरी कथा का सूत्र कालिन्दी के हाथ में है और तीसरी का कदाचित् धनदत्त के। नायक और नायिका अग्निमित्र और इरावती अभी घटनाओं के भोक्ता-रूप में आगे उठ रहे हैं—नियंता और कर्ता दूसरे ही हैं। अभी तक इनके चरित्र की रेखाओं में उभार और रंगों में भास्वरता नहीं आई है। इनकी अपेक्षा पुष्यमित्र, ब्रह्मचारी, कालिन्दी तथा अपने ढंग से धनदत्त के चित्रों की रेखाएँ अधिक पुष्ट हैं—कालिन्दी का चित्र सबसे अधिक भास्वर है। उद्देश्य की दृष्टि से इरावती में बौद्ध और आर्य (शैव) दर्शन का संघर्ष और आर्य-दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। प्रसाद जी की अपनी चिन्ताधारा में विवेक-मूलक दुःखवाद और प्रवृत्ति-मूलक आनन्दवाद का द्वन्द्व आरम्भ से लक्षित होता है। आरम्भिक नाटकों में—अजातशत्रु आदि में—बौद्ध-दर्शन की विश्व-करुणा भावना के साथ समझौता करने की थोड़ी-सी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, परन्तु कामायनी तक आते-आते वे शैव-दर्शन के आनन्दवाद को पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार कर लेते हैं। इरावती में यह आग्रह और भी स्पष्ट हो जाता है :

(१) इस बौद्धिक दम्भ के अवसाद को आर्य जाति से हटाने के लिए आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी।

(२) चारों ओर उजला-उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता अलग बना कर लड़ते नहीं। विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दीख पड़े, सबको आलिंगन करके आत्मा का आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे यह स्थिति क्या अच्छी नहीं ? × × × कहीं अशिव नहीं, सर्वत्र शिव। सर्वत्र आनन्द।

यह वास्तव में प्राचीन शैव-दर्शन का नवीन प्रगतिशील चिंताधारा के अनुकूल स्वस्थ पुनराख्यान है। प्रसाद जी के अनुसार इस युग की अथवा किसी भी युग की जीवन-समस्या का यही समाधान है जो अपनी चिरंतनता में आधुनिक और आधुनिकता में चिरंतन है।

उपन्यास का पाठ समाप्त करते-करते अनेक करुण जिज्ञासाएँ मन में उद्बुद्ध होने लगती हैं - विलासी बृहस्पतिमित्र का कैसा अंत हुआ ? पुष्यमित्र और अग्निमित्र का क्या हुआ ? इरावती और कालिन्दी की जीवन-नौका अंत में किस तट से जाकर टकरायेगी ? अग्निमित्र और इरावती के असफल प्रेम का

क्या परिणाम हुआ ? इनमें से कुछ प्रश्नों का उत्तर तो इतिहास ही दे देता है। उदाहरण के लिए बृहस्पतिमित्र का वध कर पुष्यमित्र सत्तारूढ़ हुआ। अग्नि-मित्र का जीवन भी वैयक्तिक आशा-निराशाओं से उद्वेलित होता हुआ उत्कर्ष के पथ पर आगे बढ़ा होगा और उधर अनेक आवर्तों को पार कर इरावती ने भी अग्निमित्र के विशाल वक्ष पर विराम लिया होगा। किन्तु कालिन्दी ?— उसकी प्रवृत्ति में इतना वेग है कि अंत में कदाचित् आत्म-घात में ही उसका अंत हुआ हो। इस प्रकार की अनेक करुण-मधुर कल्पनाएँ मन में जगती है और दिनकर की ये पंक्तियाँ एक निःश्वास के समान अनायास ही फिर निकल जाती हैं —**'गीत-अगीत कौन सुन्दर है?'**

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द व्यक्ति नही संस्था थे। उन्होंने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओं को युग-धर्म के दृढ़ आधार पर समन्वित किया। वे अपने सामाजिक-नैतिक व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी उपन्यास पर कई दशाब्दों तक छाये रहे। परन्तु उनके अतिरिक्त भी हमारे उपन्यास मे काफी है जो नगण्य नही है। स्थूल रूप से वर्तमान हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :

सबसे पहले तो प्रेमचन्द से प्रभावित सुधारवादी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास आते हैं, फिर शरत् से प्रेरित व्यक्तिवादी उपन्यास हैं। तीसरा वर्ग प्रगतिवादी उपन्यासों का है जिनका आधार है साम्यवाद। यशपाल इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकार हैं। चौथे वर्ग को मनोवैज्ञानिक उपन्यास का नाम दिया जा सकता है। उसमें मनोविश्लेषण-शास्त्र और काम की समस्या को मूल आधार माना गया है। इस वर्ग में दो नाम प्रमुख है अज्ञेय और इलाचन्द जोशी। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा भी अभी चल रही है जिसके प्रतिनिधि हैं वृन्दावनलाल वर्मा।

जैनेन्द्र जी के उपन्यास दूसरे वर्ग में आते है जो प्रेमचन्द के समय मे ही प्रेमचन्द की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध शरत् से प्रेरणा प्राप्त कर उठ खड़ा हुआ था। सुखदा उनका नया उपन्यास है जो कोई पन्द्रह वर्ष के बाद लिखा गया है। इस बीच जैनेन्द्र जी के मित्र और प्रशंसक कुछ निराश-से होने लग गये थे कि कदाचित् यह अकाल बन्ध्यात्व है : पर सुखदा ने यह शंका निर्मूल कर दी है, उसकी एक बड़ी सफलता तो यही है। 'परख' के उपरान्त 'सुनीता' फिर 'त्याग-पत्र' और उसके बाद 'कल्याणी', यह एक स्पष्ट क्रम था। परख में किशोर भाव था; प्रतिभा के अंकुर व्यक्त थे परन्तु अपरिपक्वता भी थी ही, सुनीता में यौवन है, संकोच कम हो गया है—आत्म-विश्वास तथा उत्साह और उसके साथ अपने प्रति सचेष्टता भी वर्तमान है। 'त्याग-पत्र' में युवती प्रगल्भा हो गयी है—अभिव्यक्ति और गोपन दोनों में निपुण—इसलिए अधिक सफल; कल्याणी की गम्भीरता में वार्धक्य का आभास है। यह

विकास-क्रम स्पष्ट था और स्वाभाविक भी। 'कल्याणी' के बाद जैनेन्द्र जी ने विचारात्मक निवन्ध और प्रश्नोत्तर लिखना शुरू कर दिया था, उसमें भी कल्याणी के पाठक को कोई अप्रत्याशित बात नहीं प्रतीत हुई। क्या सुखदा इसी क्रम में कल्याणी के बाद की रचना है? नहीं! उसमें ऐसा काफ़ी कुछ है जो त्याग-पत्र से भी पहले का है। और कदाचित् यह ठीक ही है कि उसका आरम्भ पहले ही हुआ था।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में कहानी केवल निमित्त-मात्र होती है। सुखदा में भी उसका वही उपयोग है। यद्यपि उसमें त्याग-पत्र और कल्याणी की अपेक्षा घटनाएं निस्संदेह ही अधिक हैं, झटके भी अधिक है, कहीं-कहीं कुतूहल की भी सृष्टि हुई है।

सुखदा एक मनस्वी स्त्री है—उसका अहंकार तीखा है और आकांक्षाएं प्रवल, उसका विवाह होता है मध्यम वर्ग के कान्त नामक व्यक्ति से, जो स्वभाव में उसके सर्वथा विपरीत है। पति की निरीहता और समर्पण भाव उसके अहंकार को और भी उत्तेजित कर देते हैं और साधारण गृहस्थ जीवन की संकीर्ण सीमा में उसका मन घुटने लगता है। हठात् वह क्रान्तिकारी दल से सम्पर्क स्थापित करती है जिसके नेता हैं हरिदा। उसी दल में एक सदस्य और भी है—लाल, जो मानो सुखदा की समस्या का उत्तर है। उसकी अधीर सक्रियता और आक्रमणशील स्वभाव निःस्संदेह ही सुखदा को अपनी ओर बलपूर्वक आकृष्ट करता है। दल में लाल के प्रति ईर्ष्या और सन्देह जागता है और सदस्य उसको मृत्यु-दंड देना चाहते हैं। परन्तु हरिदा लाल का मूल्य जानते हैं और वे अनेक कारणों से दल भंग कर अपने को पुलिस के हाथ में सौंपने के लिए तैयार हो जाते हैं। उन पर पाँच हज़ार का इनाम है। कान्त हरिदा के बाल-बन्धु हैं, वे तरह-तरह के नैतिक तर्क देकर अन्त में कान्त को इस बात के लिये तैयार कर लेते हैं कि वे जाकर पुलिस में सूचना दे दें। कांत निरीह भाव से यह सब कुछ कर डालते हैं। हरिदा को बचाने का प्रयत्न करते हुए लाल दल के एक अन्य सन्देहशील सदस्य प्रभात की गोली से आहत होते हैं और उनका विश्वास-पात्र साथी डाकू केदार इस धर-पकड़ में पुलिस की गोली से मारा जाता है। लाल का क्या होता है यह अज्ञात है, परन्तु रहस्य का उद्घाटन होने पर सुखदा कान्त से सदा के लिए विदा ले लेती है। ऐहिक और आध्यात्मिक व्यथा से पीड़ित सुखदा क्षय रोग का शिकार बन कर अंत में सैनेटोरियम पहुंच जाती है जहाँ से वह पुनरावलोकन के रूप में यह कहानी लिपि-बद्ध करती है। परन्तु मैने अभी कहा कि यह कहानी तो निमित्त मात्र है। फिर तत्व क्या है? सुखदा में लेखक

का मन घटनाओं में न रम कर सुखदा के चरित्रोद्घाटन में ही रमा है। पाठक को भी रस घटनाओं से नहीं मिलता, मन के विश्लेषण में से मिलता है। तो क्या मन का विश्लेषण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है? वास्तव में लेखक ने आरम्भ से अन्त तक उसको इतना अधिक महत्व दिया है कि साधारणतः इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' कहने का लोभ हो जाता है। परन्तु जैनेन्द्र जी को यह स्वीकार नही होगा। लेखक यदि तटस्थ कलाकार मात्र होता तो मन का विश्लेषण भर कर देना उसके लिए अलम् होता। किन्तु जैनेन्द्र जी का उद्देश्य कला की निरुद्देश्यता नही हो सकता। उनके लिए कला एक विशिष्ट प्रेष्य अर्थ की माध्यम है। यह प्रेष्य अर्थ है अहं का उत्सर्ग। जीवन की सबसे बड़ी समस्या है अहं और सबसे सफल समाधान है उसका उत्सर्ग। इस उत्सर्ग की विधि है आत्म-पीड़न। सुखदा के जीवन की भी मूल समस्या उसका यही अहंकार है जिसके उत्सर्ग के लिए वह अपने को हठात् पीड़ा की अग्नि में डाल देती है। साधारण पाठक को लगता है कि आखिर इससे बाहर आना क्या मुश्किल है। थोड़ा विवेक और थोड़ी-सी व्यावहारिक इच्छा-शक्ति उसे इस अग्नि-कुण्ड से निकाल सकती है, परन्तु सुखदा बचना चाहे तब न! या यों कहिए कि लेखक उसको बचने दे तभी न! सुखदा के लिए तो जैसे यह अग्नि-परीक्षा ही जीवन है। अपने को पीड़ा देकर ही वह अपने से त्राण पा सकती है। लेखक के लिए भी कदाचित् यही शरण-भूमि है। इसी लिये उसने इसे ही कला की चरम सिद्धि माना है। समूचे उपन्यास में आत्म-व्यथा की ही प्रेरणा है। केवल सुखदा ही नहीं अन्य पात्र भी जैसे व्यथापूर्वक अपने को घुला कर या अपना निषेध करके ही प्राप्य की ओर बढ़ते हैं। गृहस्थ कान्त, संन्यासी क्रान्तिकारी हरिदा, समाजवादी क्रान्तिकारी लाल और डाकू केदार सभी के जीवन की एक ही साधना है अपनेपन का समर्पण। सभी पीड़ा को पाल रहे हैं। महादेवी जी की एक पंक्ति है :—

तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा, तुम में ढूंढ़ूँगी पीड़ा।

सुखदा स्वयं और उसके सभी सहयोगी पात्र पीड़ा में ही मुक्ति ढूंढ़ते हैं। क्रान्तिकारी दल के नेता हरिदा जीवन भर क्रान्ति का संगठन करने के उपरान्त अन्त में एक प्रकार से समर्पण ही कर देते हैं। हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का प्रवक्ता लाल अपनी भौतिक मान्यताओं के बावजूद अपने जीवन में समर्पित होकर ही रहता है। हिंसाजीवी डाकू केदार का समर्पण इन से कम नहीं है। ये तो अपने लिए और अपनी तरह से सोचते भी हैं, केदार ने वह अधिकार भी छोड़ दिया है। कान्त की अक्षुब्ध निरीहता प्रश्न नहीं रह गई, उत्तर ही बन गई

है। उसकी साधना मे भी कितनी मूक पीड़ा है, यह गुप्त नही है। परन्तु यह ठीक है कि वह कर्ता न रहकर भोक्ता मात्र बन गया है। कथा की चरम घटना का भोक्ता भी वही है; वही सूचना देकर हरिदा को गिरफ़्तार कराता है और पाँच हजार का इनाम लेता है। यह घटना अपने आप मे इतनी रहस्यमय है कि पाठक के मन मे आसानी से नही बैठती, कान्त के चरित्र के साथ भी उसकी संगति नही बैठती। क्या कान्त जैसा व्यक्ति इतना निस्तेज हो सकता है? क्या कान्त, हरिदा का बालबन्धु, उनके आदर्शो से सक्रिय सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति, इतना असमर्थ हो सकता है कि एक दम हिप्नोटाइज़ होकर ऐसी भयंकर जघन्यता को अपने ऊपर ओढ़ ले? हरिदा ने समर्पण क्यों नही कर दिया? दल तो भंग हो ही गया था, रुपये की उसके लिए तो कोई सार्थकता नहीं थी, और फिर सिर्फ पाँच हज़ार की रक़म! मान लीजिए उससे थोड़ा भौतिक लाभ भी हो, परन्तु अपरिमेय नैतिक हानि को यह कैसे भर सकता है? और यह नैतिक हानि केवल व्यक्ति की ही नहीं, समाज की भी है। हरिदा जैसे अध्यात्म-दर्शी ने यह सब क्यों किया? यह शंका स्वाभाविक है, और इसका समाधान सहज नही है। परन्तु मुझे लगता है मानों लेखक ने आत्म-पीड़ा की कसौटी मान कर ही इसका सचेष्ट प्रयोग किया है। शरीर का बलिदान भी अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग नहीं है; सामाजिक स्वीकृति—'यश' के मद में व्यक्ति ऐसा हँसते-हँसते कर सकता है। शारीरिक मृत्यु सह्य है—सामाजिक मृत्यु असह्य! हरिदा ने यशःकाय के लिए काया की बलि दे दी। लाल के व्यक्तित्व की तीव्रता अपने आप में एक बड़ा नशा थी। परन्तु कान्त ने विवश भाव से बिना एनेस्थेशिया के, यह भयंकर आपरेशन करा लिया। इस बाल-बन्धु की गिरफ़्तारी के लिए पुलिस में सूचना देना और वह भी जब कि उस पर इनाम हो! इसकी केवल एक ही सार्थकता हो सकती है और वह यह कि लेखक ने इसे अहं के उत्सर्ग की कसौटी बनाया है।

उत्सर्ग की इस भूमिका पर सुखदा के अहं का विकास होता है। और पात्र तो अहं का उत्सर्ग कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु सुखदा ऐसा नहीं कर सकी इसी लिये उसकी पीड़ा-तपस्या अभी चल रही है। साहित्य-शास्त्र का नियम है कि नायक कभी नहीं मरता। मेरेडिथ की प्रसिद्ध उक्ति है 'हीरोज़ नैवर डाई, यू नो।' इसीलिए लेखक ने अपने उपन्यास के मुख्य पात्र की पीड़ा को नहीं मरने दिया अन्यथा कहानी ही समाप्त हो जाती। सुखदा के मन की पीड़ा जी रही है। और आगे कहूँ, तो इसी को लेकर जैनेन्द्र की कला जी रही है, या जी उठी है।

सुखदा की शैली के विषय में मुझे कुछ नया नहीं कहना। जैनेन्द्र जी को अपनी सतर्क सहजता का अब पर्याप्त आभास हो गया है। उनके वर्णन की वह अभ्यस्त विधि हो गई है। सुखदा में हाथ की सफ़ाई और भी व्यक्त है। पर शैली का एक सीमित रूप भी है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के दो अंग हैं: उक्ति और भाषा। उक्ति कला है और भाषा शास्त्र है। जैनेन्द्र जी उक्ति के माहिर हैं। वक्रता पर ऐसा अधिकार कदाचित् ही किसी गद्य-लेखक का हो—शायद निराला का है। परन्तु भाषा वाला अंग जैनेन्द्र जी का कच्चा है और उसके लिए जनेन्द्र जी की अपनी बौद्धिक मिथ्या धारणा ही उत्तरदायी है। वे कम अधीत नहीं है परन्तु शास्त्र के प्रति उन्हें अक्षम्य अनास्था है। यह ठीक ही है कि कला की अपेक्षा शास्त्र का स्थान निम्नतर है, परन्तु शास्त्र का तिरस्कार करने का अधिकार लेखक को नही है। जैनेन्द्र जी ने अपनी कृत्रिम सहजता के चाव में शास्त्र का तिरस्कार किया है। इसी लिये उनके अनेक प्रयोग स्पष्टतः अशुद्ध, संस्कार-भ्रष्ट और कही-कहीं ग्राम्य भी हो गये हैं:

वह भी अपनी कुर्सी में आ गये।
वह कोच में हो उठे।
मैं हिल आई।
कह कर मुझ थमी हुई की उँगली पकड़ी।

कुछ विचित्र प्रयोग भी देखिए;

(१) **कतिपय युवकों ने मिलकर कुछ प्रवृति करने की योजना की।** (२) **संघ के सदस्यों के मनों का स्वप्न सांगोपांग होता है।** (३) **लेकिन मैं देख सकी प्रसन्नता नियम की है। ["नियम की" प्रयोग यहाँ औपचारिक (फ़ार्मल) के अर्थ में किया गया है।]** (४) **इससे अपना ही व्यवच्छेद करती चलूँगी।**

मैंने इनका उल्लेख जानबूझ कर किया है क्योंकि इन्हें आसानी से—या थोड़े-से भी परिश्रम से बचाया जा सकता था। इनसे कुछ बनता नहीं है, बिगड़ता ही है क्योंकि यही व्यक्ति इस प्रकार की शानदार भाषा का भी प्रयोग कर सकता है:

(१) **जीवन और मृत्यु के बीच का वह क्षण—दोनों मानों एक होकर उसमें पिघल आये थे।**

(२) **सिर्फ़ एक क्रम है और हर व्यतिक्रम अपराध।**

(३) **इन पर विराग का व्यंग्य भी नहीं था।**

कुल मिला कर सुखदा जैनेन्द्र जी का सफल उपन्यास है, उसमें सुनीता की अपेक्षा स्वच्छता और सूक्ष्मता अधिक है परन्तु त्याग-पत्र का तीखापन और धार नहीं है।

: छः :

'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'

आज की दो पुस्तकें है : **'वोल्गा से गंगा'** राहुल सांकृत्यायन की कहानियों का संग्रह; **'बिल्लेसुर बकरिहा'** निराला जी का रचा हुआ एक हास्यमय स्केच। इन दोनों पुस्तकों में प्रकार और मूल विषय का कोई साम्य नहीं है; परन्तु दोनों हिन्दी में अपने-अपने ढंग के दो नये प्रयत्न है।

'वोल्गा से गंगा' में मानव-जीवन के सामाजिक विकास का इतिहास है। राहुल जी के शब्दों में : मानव आज जहाँ है वहाँ वह प्रारम्भ मे ही नहीं पहुंच गया था, इसके लिये उसे बड़े-बड़े संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ा है। विवेचन को बोध-गम्य और सहज-ग्राह्य बनाने के लिए उन्होंने हिन्दी-यूरोपीय जाति के इतिहास को चुना है।

पिछले ८००० वर्षों में,ईसा से ६००० वर्ष पूर्व से लेकर जब मानव वोल्गा के किनारे पर्वत गुहा में अपने सहचर पशुओं के समान ही रहा करता था, आज तक अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये उसने जो संघर्ष किये है—उन सभी का इस पुस्तक में सरल और रोचक चित्रण है। इस पुस्तक का मूल विषय मानव-शास्त्र और समाज-शास्त्र है। जहाँ तक मूल विषय का सम्बन्ध है कोई विशेषज्ञ ही उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का विचार करने का अधिकारी हो सकता है। मुझ जैसा व्यक्ति जिसने ललित साहित्य की मधुर सीमा-रेखा से बाहर झाँक कर यदा-कदा ही देखा है उसके कुछ तथ्यों पर संदेह-चकित होकर शंका ही उपस्थित कर सकता है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि-रामायण का रचना-काल ही ले लीजिए—विद्वान लेखक ने उसे अश्वघोष से कुछ पहले शुंग वंश के शासन-काल की रचना माना है। परन्तु आदि काव्य से सम्बद्ध महत्वपूर्ण परम्परा के विरुद्ध उनके पास कोई प्रमाण नहीं है, केवल एक क्षीण अनुमान भर है **'कोई ताज्जुब नहीं, कवि वाल्मीकि शुंग-वंश के आश्रित कवि रहे हों जैसे कालिदास चन्द्रगप्त विक्रमादित्य के; और शुंग-वंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने के लिये ही उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदल कर साकेत या अयोध्या कर दी, और राम के रूप**

में शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की, वैसे ही जैसे कालिदास ने रघुवंश के रघु और कुमारसम्भव के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की।' —इसी प्रकार भारतीय नाटक को यवन-प्रभाव की सृष्टि घोषित करना एक बड़ी पुरानी बात को दुहराना है जो आज सर्वथा अमान्य प्रमाणित हो चुकी है। सबसे अधिक अविश्वसनीय है राहुल जी का धर्म-विषयक सिद्धान्त 'कि धर्म केवल प्रधन-अपहारकों को शान्ति से परधन उपभोग करने का अवसर देने के लिये है।' धर्म के कारण शोषक की शक्ति बढ़ गई है और शोषित लाचार हो गया है ऐसा मान लेने पर भी, शोषक-वर्ग ने अथवा शोषक-वर्ग के सहायकों ने जान-बूझ कर धार्मिक दर्शन का समय-समय पर आविष्कार किया है, यह मानना तो सर्वथा असम्भव है। सामाजिक अवस्था के अनुसार धर्म और दर्शन का विकास हुआ—इसे मानने से कौन इन्कार करेगा ? वेद ईश्वरीय ज्ञान नही हैं वरन् एक काल विशेष की रचना हैं जिनमें तत्कालीन राजाओं का यशोगान है—ठीक है। यह भी माना जा सकता है कि विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि ऋषियों की इन ऋचाओं ने समसामयिक राजाओं को शक्ति-संचय में सहायता दी हो; उन्होंने अपना स्वार्थ साधने के लिये ऐसा किया हो—परन्तु वेद की सभी ऋचाओं के पीछे ऐसी ही कुत्सित प्रेरणा है, यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। प्रकृति के स्वर्गिक सौन्दर्य को देख कर वन के उन्मुक्त वातावरण में निवास करने वाले ऋषियों की जो वाणी विस्मय और आनन्द से विभोर हो नाच उठी थी उसको एक साथ ही स्वार्थ से प्रेरित कह देना अनुचित है। इसी प्रकार प्रवाहण ने अपने शोषण-कार्य को निर्विघ्न चलाते रहने के लिये उपनिषद् (असली) रहस्य की उद्भावना की—यह भी अमान्य है। प्रवाहण कहता है—

"पीढ़ियों से किसी ने इन्द्र, वरुण, ब्रह्म को नहीं देखा। अब कितनों के मन में सन्देह होने लगा है !"

"ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा बतलाया है कि कोई उसके देखने की माँग नहीं पेश करेगा। जो आकाश की भाँति देखने-सुनने का विषय नहीं, जो यहाँ-वहाँ सर्वत्र है, उसके देखने का सवाल कैसे उठ सकता है ? सवाल तो उन साकार देवताओं के बारे में उठता था।"

"वसिष्ठ और विश्वामित्र की नाव ने हजार वर्ष भी काम नहीं दिया, किन्तु जिस नाव को प्रवाहण तैयार कर रहा है, वह दो हजार वर्ष आगे तक राजाओं और सामन्तों, परधन-भोगियों को पार उतारती रहेगी। यज्ञ-रूपी नाव को, लोपा, मैंने अदृढ़ समझा। इसीलिये इस दृढ़ नाव को तैयार

किया है, जिसे ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर ठीक से इस्तेमाल करते हुए ऐश्वर्य भोगते रहेंगे।"

यह स्वभावतः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने वाले मानव-ज्ञान का स्पष्ट शब्दों में अपमान है। यज्ञों की प्रतिष्ठा करने वाले वेद एक युग की सामाजिक अवस्था की अभिव्यक्ति थे, ब्रह्म की सूक्ष्म सत्ता का निदर्शन करने वाले उपनिषद् दूसरे की। यह तो एक सहज सत्य है—लेकिन दोनों का सृजन शोषक-वर्ग की सहायता करने के लिये हुआ था, यह एक वितण्डा मात्र है। अज्ञात के प्रति किसी न किसी रूप में मानव को सदैव ही जिज्ञासा रही है—और ब्रह्म-ज्ञान का इतिहास इसी जिज्ञासा का आलेखन है। वास्तव में एक यह विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रति आग्रह के कारण हुआ है। राहुल जी निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जो शक्तियाँ जनता के साथ रही हैं वे समाज की प्रगति का कारण हुई हैं और जो व्यक्ति या व्यक्तियों की पोषक रही हैं वे सदैव ही प्रतिक्रिया के लिये उत्तरदायी रही हैं और इसी को लेकर उन्होंने अपने सामाजिक इतिहास की रूप-रेखा आँकी है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि एक विशेष जीवन-दर्शन के प्रति आग्रह होने के कारण उनका विवेचन भी कुछ अंशों में एकांगी और अवैज्ञानिक हो गया है। एक आश्चर्य की बात यह है कि धर्म का इतना घोर विरोध करने वाले राहुल जी के सामने जब बौद्ध धर्म का प्रसंग आता है तो उनकी आलोचना सर्वथा शिथिल पड़ जाती है। बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद और अनात्मवाद को ही लेकर उसको प्रगतिशील संस्था मान लेना काफ़ी नहीं होगा। यह ठीक है कि आरम्भ में उसने जनता से बल प्राप्त किया था परन्तु फिर भी उसके घोर प्रतिक्रियात्मक प्रभावों को तो इतिहास आज भी गला फाड़-फाड़ कर घोषित कर रहा है। यह लेखक पर संस्कारों का प्रभाव है जो प्रायः शिक्षा और सिद्धान्त का तिरस्कार कर अपना अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

परन्तु यह तो इस पुस्तक का गौण पक्ष है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है लेखक का व्यापक दृष्टि-विस्तार जो ८००० वर्ष तक प्रसरित मानव-जीवन के इतिहास का पूरी तरह साक्षात्कार कर उसको हमारे मानस के सामने प्रत्यक्ष कर सका है। इतने विस्तृत देश-काल पर समग्रतः अधिकार रखने वाली दृष्टि हिन्दी के एक-आध विद्वान को ही प्राप्त होगी। और गौरव की बात यह है कि वह कहीं भी उलझी नहीं है—मानव-जीवन के विकास में पड़ने वाले भिन्न-भिन्न संस्थानों पर ठहरती हुई बड़ी सफाई के साथ १९४२ पर आ कर ही रुकी है। इस दृष्टि-विस्तार को सहायता मिली है लेखक के व्यापक पाण्डित्य से। पुरातत्व, मानव-शास्त्र, समाज-शास्त्र, दर्शन, साहित्य और इतिहास के विस्तृत

पर्यालोचन के बिना यह सब सम्भव नहीं था। लेखक की सृजन-शक्ति का परिचय वातावरण की सृष्टि से भी मिलता है। इतिहास के प्रस्तर-खण्डों को बड़े कौशल से जोड़ कर उसने प्रत्येक युग के वातावरण की सजीव सृष्टि की है। इस दृष्टि से प्रागैतिहासिक काल की कहानियाँ तो सचमुच अद्भुत है। वातावरण की सृष्टि के लिए लेखक ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सफल चित्रण करने के अतिरिक्त उनके अनुकूल प्रकृति-चित्रों का भी अंकन किया है। ये चित्र अत्यन्त सजीव और वैज्ञानिक हैं—इनकी रेखाएँ अत्यन्त पुष्ट हैं और रंग अत्यन्त मनोरम। निशा और दिवा की कथाओं में वोल्गा तट के तुषार-मण्डित विभिन्न प्रदेशों के वर्णन चित्र-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त भाषा का प्रयोग भी देश-काल के अनुसार किया गया है—आदिम-युग का मानव पूरे वाक्य नहीं बोलता। पूरक संज्ञाएँ उसकी भाषा में नही है—वैदिक काल का मानव जो भाषा बोलता है उसमें वैदिक संस्कृत की शब्दावली की प्रचुरता है—मुसलमानों के आगमन के बाद भाषा में [illegible] का पुट आने लगता है। इस प्रकार काफ़ी सावधानी से वातावरण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

यह सब होते हुए भी 'वोल्गा से गंगा' की रोचकता सीमित-सी रहती यदि इन कहानियों में शुष्क इतिहास मात्र होता। परन्तु राहुल जी ने स्थान-स्थान पर मानवीय तत्व का आरोप कर इन कथाओं में रक्त और मांस भरने का प्रयत्न भी किया है, जिससे वे हृदयग्राही हो गयी हैं। हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ऐतिहासिक तथ्यों में मानवीय रंग भरने का राहुल जी के पास केवल एक ही साधन है—सैक्स, जिसका प्रयोग बार-बार दुहराया गया है। प्रत्येक युग के जीवन-नाटक के सूत्रधार-रूप में कोई एक प्रेमी-प्रेमिका ही रंगमंच पर अवतरित होते हैं, और कहानी के मध्य में उनकी प्रगाढ़ प्रेम क्रीड़ायें, विशेषकर चुम्बनों की बौछारें, और अन्त में किसी न किसी रूप में उनका अनंत जीवन में लय हो जाना—घटना-चक्र में रस-संचार करता है। कहानी-कला की दृष्टि से 'वोल्गा से गंगा' के अधिकांश प्रयत्न असफल हैं। विशेष रूप में सुदास, और साधारणतः नागदत्त तथा सुरैया को छोड़ कर शेष कोई भी प्रसंग कहानी के गौरव का अधिकारी नहीं है। उनमें घटनाओं या मनोवृत्तियों के उत्थान-पतन का सर्वथा अभाव है—चरम स्थिति का कहीं भी पता नहीं है। और उसके लिये पुरातत्व के एक विद्वान को दोषी ठहराना भी अनुचित होगा।

कुल मिलाकर 'वोल्गा से गंगा' हिन्दी साहित्य के लिये एक नवीन उपहार है। युग-युग तक प्रसरित मानव जीवन की अनंतता को आर-पार झाँकने वाली

'वोल्गा से गंगा' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'

राहुल जी की दृष्टि हिन्दी के लिये एक वरदान है।

आज की दूसरी पुस्तक है निराला जी का **'बिल्लेसुर बकरिहा।'** 'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला जी के शब्दों में हास्य लिये एक स्केच है। इसका हीरो—और इसमें एक ही व्यक्ति है भी, एक साधारण मनुष्य है—उसके जीवन-वृत्त में किसी प्रकार का रंग-रोमांस या किसी प्रकार की भी असाधारणता नहीं है। उसके चरित्र की विशेषता ही सचमुच यही है कि उसमें बाहर से आकृष्ट करने वाली कोई भी विशेषता नहीं है—उसकी तस्वीर में एक भी रंग अच्छा या बुरा ऐसा नहीं है जो चटकीलेपन से आपको आकृष्ट करता हो। अतएव उसमें रस ढूँढ़ने के लिये आपको थोड़ा गहरा घुसना पड़ेगा, और मानव के अपने सहज-सामान्य रूप में दिलचस्पी पैदा करनी होगी। तब आपको बिल्लेसुर के व्यक्तित्व में एक आकर्षण मिलेगा। उसके चरित्र की सबसे बड़ी क्षमता यही है कि उसने जीवन को निर्विवाद रूप में एक संघर्ष मान लिया है, अतएव वह धीरतापूर्वक उसकी चोटों को, उसके उतार-चढ़ाव को सहते हुए आगे बढ़ते रहने की शक्ति रखता है। उसे जीवन के प्रति निर्जीव मोह नहीं है। वह तो निर्भ्रांत होकर बिना किसी प्रकार की हड़बड़ी या अधीरता के रचनात्मक शक्तियों का उपयोग करता हुआ प्रगति के पथ पर अग्रसर है—बाधायें आती हैं, उसको तकलीफ़ होती है, परन्तु विचलित होकर हार बैठने की बात उसके मन में कभी नहीं आती। वह धैर्यपूर्वक उसको जीवन का एक अनिवार्य अनुभव मानकर फिर आगे बढ़ जाता है। और इसी लिये जीवन में एकाकी होकर भी वह व्यक्तिवादी नहीं है। गाँव के उपहास और उपेक्षा का पात्र हो कर भी वह यही सोचता है :

"क्यों एक दूसरे के लिये नहीं खड़ा होता। जवाब कभी कुछ नहीं मिला। फिर भी जान रहते काम करना पड़ता है, यह सच है।"

बिल्लेसुर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन लेखक ने स्वयं ही बड़े सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में किया है। सुनिये—

"हमारे सुकरात के ज़बान न थी, पर इसकी फ़िलासफ़ी लचर न थी। सिर्फ़ कोई इसकी सुनता न था; इसे भूल-भुलैया से निकलने का रास्ता नहीं दिखा, इसलिये यह भटकता रहा।"

इस प्रकार का निर्विशेष स्केच इतना सफल और रोचक किस प्रकार बन सका, यह प्रश्न उठता है। वास्तव में व्यक्तित्व-चित्रण की सफलता का रहस्य उसकी सचाई और यथातथ्यता है। निराला वैसे तो छायावादी होने के नाते घोर भावगत कविताएँ लिखते रहे हैं, परन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिभा इतनी समर्थ है कि वह एक साथ ही दो सर्वथा विरोधी दृष्टिकोणों को ग्रहण कर

अत्यंत सफल रचना कर सकते हैं। परस्पर बिरोधी तत्वों पर इतना सबल अधिकार आज हिन्दी के दूसरे साहित्यकार को प्राप्त नहीं है। उनके गीत जहाँ शुद्ध भावगत हैं, वहाँ उनके स्केच और कहानियों में स्वच्छ वस्तुगत दृष्टिकोण मिलता है। प्रस्तुत स्केच की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है लेखक की एकांत तटस्थता। लेखक ने जिस कौशल के साथ अपनी सहानुभूति को संयत रखा है, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है, कहीं पर भी उसने अपनी तस्वीर के रंगों को भड़कीला नहीं होने दिया। प्रगति की ओर झुका हुआ होने पर भी लेखक न कहीं जीवन के संघर्ष का उद्घोष करता है, न कहीं बिल्लेसुर की रचनात्मक शक्तियों अथवा उसकी सामाजिक फ़िलासफ़ी का प्रचार ही करता है,और न कहीं शोषक-वर्ग का काला चित्र खींचकर शोषित-वर्ग के इस प्राणी के लिये करुणा का ही संचार कराता है। इन सभी तत्वों को उसने बड़े सहज ढंग से अप्रत्यक्ष रूप में बिल्लेसुर के व्यक्तित्व में ही समन्वित किया है। व्यक्ति का सच्चा चित्रण अव्यक्तिगत शैली से ही हो सकता है—चित्रकार को अपना व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् रखना पड़ेगा, तभी वह ईमानदारी से उसका मूल्यांकन कर सकेगा। और सचमुच निराला जी ने यह सब कुछ इतनी सावधानी से किया है कि कहीं उसमें गढ़ने या दिशा विशेष में ढालने की कोशिश नज़र नहीं आती। उसका अंत भी सहज रूप में—रूढ़ शब्दावली में अंतहीन अंत के ढंग पर होता है। और इसके लिए एक विशेष कलात्मक संयम की आवश्यकता है जो कला को आत्म-गोपन की शक्ति प्रदान करता है।

फिर भी पुस्तक की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय तटस्थता को ही दे देना ग़लत होगा। उसके लिये निराला जी का हास्य भी बहुत कुछ उत्तरदायी है—रोचकता तो स्पष्ट रूप से बहुत-कुछ हास्य की ही आश्रित है। और वैसे भी हास्य तटस्थता से सर्वथा भिन्न अथवा असम्बद्ध तत्व भी नहीं है। वह उसका एक आवश्यक उपकरण है—बिना हास्य के तटस्थता आ ही नहीं सकती। जीवन में वे लोग ही स्वस्थ रूप से तटस्थ कहे जा सकते हैं जो जीवन की विषमताओं पर हँसने की क्षमता रखते हैं। विदेश में रस के दो मुख्य भेद माने गये हैं—करुण और हास्य। करुण हमारे दृष्टिकोण को वैयक्तिक बनाकर हमें आलम्बन की ओर आकृष्ट करता है, हास्य उसे निर्वैयक्तिक बनाकर आलम्बन से पृथक् रहने का अवसर देता है। दृष्टिकोण की तटस्थता के कारण ही इस रचना का हास्य न तो बारीक और संस्कृत ही बन पाया है–और न उसमें व्यंग्य या वक्रता की तीखी धार ही है। वह सर्वथा स्पष्ट और उन्मुक्त है, उसमें न किसी प्रकार की ग्रंथि है और न बात को दबा-छिपाकर बारीकी और मुलायमियत लाने की

कोशिश है।

इसके साथ ही हास्य यहाँ साधन बनकर उपयुक्त हुआ है, साध्य बनकर नहीं। इसलिये स्केच के अंग-निर्माण में ही उसका प्रयोग है—मूलात्मा में—अर्थात् सारभूत प्रभाव में नहीं। सारभूत प्रभाव से तो जीवन की गंभीरता की ही ध्वनि निकलती है। मूल धारणा का विश्लेषण कीजिये तो वह यही होगा कि जीवन एक गंभीर सत्य है, परन्तु मुँह लटकाकर या आँखों में आँसू भर कर, भारी दिल से उसकी गंभीरता को स्वीकार करना वास्तव में उससे हार मान लेना है—और हँसी-खुशी उसकी विषमताओं को स्वीकार करते हुए उसे ग्रहण करना जीवन का रहस्य समझ लेना है। इसीलिये बिल्लेसुर बकरिहा में हास्य का निवास प्रायः परिस्थिति में नहीं है वरन् वर्णनों अथवा लेखक के अपने संकेत-स्पर्शों में ही है। अपने वर्णनों और उक्तियों को निराला जी ने प्रायः एक साधारण तथ्य को अत्यंत गम्भीरतापूर्वक सामने उपस्थित कर—साधारण और विशेष का अंतर मिटाते हुए, हास्यमय बनाया है। ऐसा करने के लिये कहीं तो वे व्याकरण अथवा किसी शास्त्र का उद्धरण देकर उसको सर्वथा प्रामाणिक बनाने की पूरी चेष्टा करते हैं—जैसा कि शुरू ही में बिल्लेसुर बकरिहा नाम की व्याख्या में किया है :

"बिल्लेसुर नाम का शुद्ध रूप—बड़े पते से मालूम हुआ - बिल्वेश्वर है। पुरवा डिवीजन में, जहाँ का नाम है, लोकमत बिल्लेसुर शब्द की ओर है। कारण, पुरवा में उक्त नाम के प्रतिष्ठित शिव हैं। अन्यत्र यह नाम न मिलेगा, इसलिये भाषा-तत्व की दृष्टि से गौरव-पूर्ण है। बकरिहा जहाँ का शब्द है, वहाँ बोकरिहा कहते हैं। वहाँ बकरी को बोकरी कहते हैं। मैंने उसका हिन्दुस्तानी रूप निकाला है। 'हा' का प्रयोग हनन करने के अर्थ में नहीं, पालन के अर्थ में है।"

कहीं-कहीं किसी मामूली-सी बात के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों का बड़ी सावधानी से वर्णन कर हास्य का संचार किया गया है—मानो उनकी शुद्ध गणना के बिना बात अपना अर्थ ही खो बैठेगी। एक उदाहरण लीजिये—

"सास को दिखाने के लिये बिल्लेसुर रोज अगरासन निकालते थे। भोजन करके उठते वक्त हाथ में ले लेते थे और रख कर हाथ-मुँह धोकर कुल्ले करके बकरी के बच्चे को खिला देते थे। अगरासन निकालने से पहले लोटे से पानी लेकर तीन दफ़े थाली के बाहर से चुवाते हुए घुमाते थे। अगरासन निकाल कर टुनकियाँ देते हुए लोटा बजाते थे और आँखें बन्द कर लेते थे।"

या फिर कभी किसी अत्यंत प्रसिद्ध सामयिक प्रसंग से किसी छोटी-मोटी घटना का सम्बन्ध बैठाकर वर्णन को हास्यमय बनाया गया है—

"बिल्लेसुर बिना टिकट कटाये कलकत्ते वाली गाड़ी पर बैठ गये। इलाहाबाद पहुँचते-पहुँचते चैकर ने कान पकड़ कर उतार दिया। बिल्लेसुर हिन्दुस्तान की जलवायु के अनुसार सविनय क़ानून भंग कर रहे थे, कुछ बोले नहीं चुपचाप उतर आये; लेकिन सिद्धान्त नहीं छोड़ा।"

'बिल्लेसुर बकरिहा' हिन्दी के लिये एक नई चीज़ है। दृष्टिकोण की यह तटस्थता उससे पहले केवल 'कुल्ली भाट' में ही मिलती है। मैं समझता हूँ, अभी एकांत हिन्दी के पाठक को उसका रस लेने में कुछ कठिनाई पड़ेगी—और स्केच को समाप्त करने के बाद शायद वह कह उठेगा कि कोई बात बनी नही। परन्तु ऐसा नही है।

: सात :

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

समीक्षा के लिए इस ग्रन्थ का चयन मैंने अध्ययन तथा ज्ञान-वर्धन के से ही किया है, आलोचना तो केवल एक प्रासंगिक क्रिया मात्र है। वास्तव हमारे साहित्य का आदिकाल इतना तमसाच्छन्न है कि उसमें प्रवेश करना सा रणतः सम्भव नहीं है : उसके ऊपर ऐतिहासिक भ्रान्तियों तथा भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी उलझनों का ऐसा भयंकर जगड्वाल छाया हुआ है कि सत्य की शोध करना अत्यन्त दुस्साध्य हो जाता है। यह युग साहित्य के इतिहास में ही नहीं देश के इतिहास में भी भयंकर अराजकता का युग था। इसका अनुसन्धाता इतिहास के लिए साहित्य के जंगल में और साहित्य के लिए इतिहास के खँडहरों में भटकता फिरता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इस युग का इतिहास केवल अपूर्ण ही नहीं वरन् भ्रान्तिपूर्ण भी रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-पथ के तीन प्रमुख स्तम्भ माने जा सकते हैं। पहला स्तम्भ 'शिवसिंह सरोज' है, दूसरा 'मिश्रबन्धु विनोद' और तीसरा आचार्य शुक्ल-रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' है। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण निस्सन्देह ही शुक्ल जी का इतिहास है। वास्तव में यही सच्चे अर्थ में साहित्य का इतिहास है : उसका गौरव आज भी अक्षुण्ण है, आज भी अनेक इतिहास पृथक् रूप से अथवा मिल कर उसके स्थानापन्न नहीं हो सकते। हमारा यह कथन शुक्ल जी की गौरव-स्वीकृति के अतिरिक्त हिन्दी के इस अंग की निर्धनता का भी द्योतक है क्योंकि शुक्ल जी का इतिहास निस्सन्देह ही निर्दोष नहीं है। वह अपने आप में सर्वथा पर्याप्त भी नहीं है। उसके आदिकाल तथा आधुनिक काल दोनों ही असन्तोषप्रद हैं : आदिकाल पर्याप्त ज्ञान के अभाव के कारण और आधुनिक काल वांछित सहानुभूति एवं रागात्मक तादात्म्य के अभाव में। आधुनिक युग तो हमारा अपना युग है, उसको समझने-समझाने का समय भी है और साधन भी। परन्तु आदियुग वास्तव में एक समस्या-युग है और वहाँ पहुंच भी केवल उन्हीं की हो सकती है, जो प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदि के विशेषज्ञ हैं। वह साहित्य के साथ ही भाषा-विज्ञान और इतिहास तथा प्राच्य-विद्यादि के शोधपूर्ण अध्ययन की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के आदिकाल

के प्रामाणिक अध्ययन के लिए विशेष रूप से अधिकारी है। वे इस कार्य के लिये सभी प्रकार व्युत्पन्न हैं। उन्होने अपने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्यों तथा भाषाओं के विशिष्ट ज्ञान तथा परम्परा-शोधक ऐतिहासिक दृष्टि का पूर्ण मनोयोग के साथ सदुपयोग किया है और उसके परिणाम-स्वरूप जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह निस्सन्देह अत्यन्त उपादेय है; वह हमारे आदिकाल के सम्बन्ध में अनेक समस्याओं का समाधान करता है, अनेक महत्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करता है और उस बीहड़ में प्रवेश करने के लिए नवीन सरणियों का निर्देशन करता है।

'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' में उन पाँच व्याख्यानों का संकलन है जो बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद् के तत्वावधान में द्विवेदी जी ने इस विषय पर दिये थे। इनमें से पहिला व्याख्यान अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध भ्रान्तियों की ओर संकेत करता हुआ द्विवेदी जी के अपने अभिमत की सूचना देता है। **"इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग अन्तर्कालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।"**......इसके अतिरिक्त उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार इस बात को ज़ोर देकर नही कहा, पर इस काल का नाम वीरगाथा-काल संगत नहीं है। वे भाषा की दृष्टि से इसे अपभ्रंश-काल कहना ही पसन्द करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है... **"जो एक आध शिलालेख और ग्रन्थ : जैसे, युक्ति-व्यक्ति प्रकरण मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य और बोलचाल की भाषा मे तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिये इस काल को अपभ्रंश-काल कहना उचित ही है।"** विषय-वस्तु को दृष्टि में रख कर वे राहुल जी के सुझाये हुये नाम सिद्ध-सामन्त-काल को वीरगाथा-काल की अपेक्षा ज़्यादा पसन्द करते हैं। द्वितीय व्याख्यान मे द्विवेदी जी ने वर्तमान हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के तत्कालीन हिन्दी साहित्य की अपेक्षाकृत न्यूनता के ऐतिहासिक कार्यों का उल्लेख करते हुये दो-चार उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी-क्षेत्र की भाषा की अनेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उपस्थित किया है जिनके द्वारा पुरानी अथवा प्राचीन हिन्दी के अनेक सामान्य रूपों का स्पष्टीकरण हो जाता है। और वास्तव में पुरानी हिन्दी की ही नहीं, व्रज-भाषा, अवधी तथा वर्तमान हिन्दी की अनेक प्रवृत्तियों को समझने के लिये भी द्विवेदी जी की इन टिप्पणियों की उपादेयता असन्दिग्ध है। तृतीय और चतुर्थ व्याख्यानों में विद्वान वक्ता ने 'पृथ्वीराज

रासो' पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस अध्ययन की भूमिका के रूप में उन्होंने कथा, चरित-काव्य तथा रासो आदि सम्बन्धित काव्य-रूपों का शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन भी किया है। यह विवेचन हिन्दी विद्वानों में प्रचलित रासो-विषयक विवाद का तो अन्त कर ही देता है उसके साथ ही पृथ्वीराज-रासो, तत्कालीन अन्य चरित-काव्यों तथा परवर्ती प्रबन्ध-काव्यों में प्रयुक्त अनेक साहित्य-रूढ़ियों का मार्मिक विश्लेषण उपस्थित करता हुआ मध्ययुगीन प्रबन्ध-काव्य के अध्ययन के लिये एक नवीन मार्ग का उद्घाटन भी करता है। रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आचार्य जी ने कुछ स्थापनायें भी की हैं जो तद्-विषयक विद्वानों तथा विशेषज्ञों के लिये विचारणीय हैं। कुछ विशिष्ट स्थापनायें इस प्रकार हैं :

"चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-सम्वाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस सम्वाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है।"

"इससे लगता है कि पृथ्वीराज-रासो आरम्भ में ऐसा कथा-काव्य था जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान, मसृण-प्रयोग-युक्त गेय रूपक था। उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी।

"संयोगिता काल प्रसंग निस्सन्दिग्ध रूप से मूल रासो का सर्व-प्रधान अंग था। यद्यपि अपने वर्तमान रूप में वह बहुत-से प्रक्षिप्त अंशों के कारण विकृत हो गया है।"

'सभी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के समान इसमें : अर्थात् रासो में इतिहास और कल्पना का, फ़ैक्ट और फ़िक्शन का, मिश्रण है।"

अन्तिम अर्थात् पंचम व्याख्यान में हिन्दी के आदिकाल में प्रचलित विभिन्न काव्य-रूपों का प्रामाणिक अनुसन्धान किया गया है जिसके प्रकाश में हिन्दी के परवर्ती काव्य-रूपों को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

प्रस्तुत विवेचन की दो दृष्टियों से समीक्षा की जा सकती है : विषय की प्रामाणिकता की दृष्टि से और लेखक की आलोचना-पद्धति की दृष्टि से।

पहली के विषय में मैं आरम्भ में ही अपनी असमर्थता और द्विवेदी जी की समर्थता की घोषणा कर चुका हूँ। उनकी स्थापनाएँ निःसन्देह ही हिन्दी साहित्य के इतिहासकार के लिये विचारणीय हैं। वे रासो के अनुसन्धाताओं के लिये प्रोत्साहन और उत्तेजना का कारण बन सकती हैं। हिन्दी काव्य के विद्यार्थियों का उनके द्वारा ज्ञान-वर्धन होता है। इस दृष्टि से मैं स्वयं उपकृत हुआ हूँ। इस छोटी-सी पुस्तिका में हिन्दी के आदिकाल के विषय में बहुत-कुछ जानकारी मिलती है जो उपादेय है और एक अधिकारी शोधक से प्राप्त होने के कारण

प्रामाणिक भी होनी ही चाहिए। केवल विषय-सामग्री की दृष्टि से भी यह पुस्तिका हिन्दी साहित्य के निर्माण में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ती है। इसके आगे और कुछ कहने का अधिकार केवल विशेषज्ञों को ही है।

आलोचना-पद्धति की थोड़ी-सी विवेचना हम कदाचित् अधिक विश्वास के साथ कर सकेंगे। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि द्विवेदी जी की आलोचक-दृष्टि ऐतिहासिक तथा समष्टि-परक है। उनकी दृष्टि भारतीय वाङ्मय के विशाल क्षेत्र की यात्रा करती हुई बड़े परिश्रम से उन परम्परा-सूत्रों को ढूँढ़ निकालती है जिनके द्वारा इस महान देश का प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य एकता में बँधा चला आ रहा है। उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' ने हिन्दी आलोचना की इसी नवीन दिशा की ओर संकेत किया था। आज वह दृष्टि और भी स्थिर हो गई है। इस व्यापक दृष्टि के पीछे द्विवेदी जी की व्यापक मानव-सहानुभूति की प्रेरणा रहती है। जैसा कि उन्होंने स्थान-स्थान पर कहा और लिखा है: **"मानव-यात्रा की प्रगति में सहायक होना ही साहित्य का चरमोद्देश्य है। तभी साहित्य शिव-साधना बन सकता है अन्यथा वह शब्द-साधना मात्र रह जायेगा।'** इसीलिये वे सम्पूर्ण मानव-जीवन की पूर्व-पीठिका पर ही साहित्य और कला का अध्ययन करते हैं। हमारे साहित्य में शुक्ल जी ने पहली बार साहित्य के कृत्रिम बाँधों को तोड़ कर उसे मानव-जीवन के चिरन्तन स्रोत-प्रवाह के साथ मिलाने का प्रयत्न किया था। परन्तु शुक्ल जी के लिये मानव-जीवन का अर्थ शिक्षित जन-समुदाय का जीवन ही था। साहित्य के लिये वे उसी को प्रासंगिक मानते थे, उनकी दृष्टि में जन-जीवन साहित्य के लिए अप्रासंगिक था। द्विवेदी जी ने समग्र जन-जीवन के साथ ही साहित्य का मूल सम्बन्ध माना है। यह उनके युग-धर्म की आवश्यकता है। शुक्ल जी की धारणा उनके अपने युग की उद्भूति थी। द्विवेदी जी इसी परम्परा-सम्बन्ध की उद्घाटना को आलोचना और साहित्यिक गवेषणा की चरम-सिद्धि मानते हैं। चरम सिद्धि के विषय में तो दो मत हो सकते हैं परन्तु सार्थकता के विषय में मतभेद के लिए अवकाश नहीं हैं। हमारा अपना मत इससे भिन्न है। साहित्य समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की साधना ही अधिक है। उसका अध्ययन मूलतः इसी रूप में होना चाहिये।

: आठ :

भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक

कुछ समय पूर्व भगवती बाबू ने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक साहित्य-गोष्ठी में कहा था "मैं मुख्य रूप से उपन्यासकार हूँ, कवि नहीं—आज मेरा उपन्यासकार ही सजग रह गया है, कविता से लगाव छूट गया है।" मेरी धारणा है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का जागरूक अध्येता उनकी इस आत्म-समीक्षा से विशेष सहमत नहीं होगा। इसमें सन्देह नही कि भगवती बाबू हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं - उनकी 'चित्रलेखा' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हिन्दी के वरिष्ठ उपन्यास हैं, उनके एकांकी और कहानियाँ भी निश्चय ही सफल कला-कृतियाँ है, परन्तु उनका प्रथम प्रणय कविता के साथ ही हुआ था और आप जानते हैं कि प्रथम प्रणय का प्रेरक प्रभाव अनिवार्यतः गंभीर एवं जीवन-व्यापी होता है। अतएव उनका कवि उपन्यासकार अथवा नाटककार से पीछे कभी नहीं रहा और न आज है: कवि तो वास्तव में उन दोनों का प्रेरक रहा है।

भगवतीचरण वर्मा के काव्य का जन्म और प्रथम विकास छायावाद युग में हुआ। वह युग अपने मूल रूप में वैयक्तिक चेतना की स्फूर्ति का युग था: कवि का अहं, जो शताब्दियों से—कभी काव्य और कभी नीति तथा आचार की रूढ़ियों में जकड़ा पड़ा था, स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में फूट उठा। इस वैयक्तिक चेतना के उस समय दो रूप थे—एक आस्तिक रूप जिसमें अहं की विश्वासमयी रागात्मक प्रवृत्तियों का प्राधान्य था—यह अहं की रचनात्मक अभिव्यक्ति थी। दूसरा नास्तिक रूप था जिसमें अहं की विद्वेषमयी प्रवृत्तियों का—संदेह, दर्प, विद्रोह, घृणा, ध्वंस आदि का प्राधान्य था: यह अहं का ध्वंसात्मक रूप था। एक में आत्मा का सात्विक शुभ्र-कोमल प्रकाश था, दूसरे में मन और देह की राजसिक-तामसिक शक्ति। युग की परिस्थितियाँ पहले रूप के ही अधिक अनुकूल थीं—युग-पुरुष गांधी की अहिंसा उस युग की चेतना की प्रतीक थी, अतएव छायावाद में वैयक्तिक चेतना के आस्तिक अधिमानसिक रूप का ही विकास अधिक हुआ। पंत, महादेवी आदि सुकुमार कवियों ने तो स्वभाव से ही

उसे आत्मसात् कर लिया। प्रसाद और निराला जैसे उद्दाम कवियों ने भी जीवन की अंतर्मुखी साधना और उस पर आश्रित सूक्ष्मतर अधिमानसिक मूल्यों को ही स्वीकार कर लिया। परन्तु देह का पक्ष भी अनभिव्यक्त नही रहा—रह भी नहीं सकता था क्योंकि राजनीतिक और सामाजिक असफलता के उस युग में भौतिक कुण्ठाएँ भी इतनी प्रबल थीं कि उनका उन्नयन सर्वदा सम्भव नहीं था। स्वयं प्रसाद जी की कुछ कविताओं में, निराला की अनेक कृतियों में और भगवतीचरण वर्मा की अधिकांश रचनाओं में उस युग की वैयक्तिक चेतना की रक्त-मांस (देह) की प्रवृत्तियों को वाणी मिली। बाद म बच्चन और अंचल आदि कवियों ने भी इस स्वर को पकड़ लिया। संक्षेप में भगवती बाबू की कविता के उद्भव का पृष्ठाधार यही है।

भगवती बाबू की कविता का प्राण-तत्व अहंकार है। किन्तु इसमें आत्मा की अद्वैत स्थिति अथवा सोऽहं की अनुभूति नहीं है वरन् भौतिक कुण्ठाओं से पीड़ित मन और देह के असफल विद्रोह की हुंकार है। इस कवि की काव्य-चेतना का निर्माण बीसवी शताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशाब्दों में हुआ है—दो प्रबल देश-व्यापी संघर्षो की विफलता के साक्षी ये १५-२० वर्ष भारतीय जीवन के लिए अन्तर्मथन और आंतरिक विप्लव के वर्ष थे। देश ने समष्टि-रूप से विश्वासमयी प्रवृत्तियों का संगठन करके गांधी के साथ विफलता का अहिंसा में उन्नयन करने का सफल-असफल प्रयत्न किया, किन्तु ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नही था जो विश्वास के पुष्ट आधार के अभाव में उन्नयन की चिंता छोड़ जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का रस और विष पीते रहे। भगवती बाबू ने इसी वर्ग की चेतना को काव्य-वाणी दी है। उन्होंने चिंतन अथवा दर्शन का बौद्धिक कवच धारण नहीं किया—उनके संस्कार ही उसके अनुकूल नही थे, हरिभक्ति के लिए भी तो भगवान की कृपा की अपेक्षा होती है। अतएव प्रत्यक्ष अनुभव की आधारभूत मूल मानव-वृत्तियों को ही उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया : स्थायी अहंकार और उसकी परिधि मे संचरण करने वाली प्रेम, घृणा, दर्प, ग्लानि आदि मौलिक मनोवृत्तियाँ प्रकृत रूप में अपनी सम्पूर्ण माधुरी और कटुता को लिए हुए उनके काव्य में अभिव्यक्त हैं। इस कविता का विचार-पक्ष दुर्बल नहीं है किन्तु वह अनुभूति का सहज विकास है—विचार का इस कविता में अनुभूति के साथ प्रेरक-प्रेरित सम्बंध है। इस कवि ने कहीं भी शास्त्र से विचार उधार लेकर अपनी अनुभूति की स्वच्छन्द गति को बाँधने का प्रयत्न नहीं किया, कहीं भी इसने संस्कृतिवादियों की तरह दार्शनिक सत्यों के साथ, अथवा प्रगति-प्रयोगवादियों की तरह अर्थ-शास्त्र या मनोविज्ञान के तथ्यों के साथ प्रयत्नपूर्वक

रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर कटु-मधुर अनुभवों को पूरी तरह भोगता हुआ यह अनेक विचारधाराओं में होकर गुज़रता रहा है : अद्वैतवाद, मानववाद, गांधीवाद, मार्क्सवाद, नियतिवाद, प्रवृत्तिवाद सभी में से वह गुज़र चुका है, परन्तु किसी एक ने न तो उसको अभिभूत कर लिया है, और न वही किसी एक को पकड़ कर बैठ गया है। हार्दिक विश्वास के अभाव में कभी भी उसने बौद्धिक विश्वास का अपनी चेतना पर आरोपण नहीं होने दिया। यह ठीक है कि विश्वास के अभाव में जीवन के सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं है, और सत्य के साक्षात्कार के अभाव में प्रख्या और उपाख्या दोनों में से किसी को विराट तत्व की उपलब्धि सम्भव नहीं है—अर्थात् व्यक्ति को दार्शनिक अथवा साहित्यिक किसी स्तर पर महत्तत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु विराट अथवा महत् से नीचे धरातल पर भी यदि अनुभूति के जीवन्त मांसल स्पर्शों से यह कवि अपने काव्य की सहज उष्णता को बनाए रख सका है, तो वह भी कम सफलता नही है।

इस आधार-फलक पर अब प्रस्तुत काव्य-रूपकों की समीक्षा करना सहज होगा। ये काव्य-रूपक तीन हैं : महाकाल, द्रौपदी और कर्ण। महाकाल प्रतीक-रूपक है। **महाकाल** [illegible] शक्ति-पुंज का प्रतीक है। उसकी कल्पना में कवि ने विज्ञान और दर्शन दोनों का आश्रय लिया है : विज्ञान के अनुसार यह ब्रह्मांड शक्ति का एक बृहत् पुंज है जो संकुचन और विस्तारण की क्रिया के कारण निरंतर गतिशील है। किन्तु केवल शक्ति तो अन्धी गति मात्र है, वह सृष्टि-विकास के इस सुयोजित क्रम को किस प्रकार पूर्ण कर सकती है ? अतएव आस्तिक दर्शन के आधार पर कवि ने उसमें चेतना की अवतारणा कर ली है। शक्ति-पुंज महाकाल के गर्भ से क्रमशः सृष्टि का उदय होता है और प्राणि-श्रेष्ठ मानव अपने व्यक्तित्व में निर्माण के साथ विनाश की प्रवृत्तियाँ लेकर उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अंत में अपनी अहंता में नष्ट हो जाता है। सब कुछ फिर महाकाल में विलीन हो जाता है। उस समय चेतना थकी-सी पराजित-सी महाकाल में लय हो जाती है और एक बार विस्तृत शक्ति-पुञ्ज निष्क्रिय-सा रह जाता है, जहाँ चेतना सोई हुई-सी है। इस प्रकार इस रूपक का ध्वन्यार्थ लगभग यही हुआ कि सृजन असत् है, विनाश ही सत् है। यह निश्चय ही निराशावाद का प्रतिपादन है। भावना के धरातल पर यह रूपक मानव-अहंकार के पराजय की स्वीकृति है, और कवि अंत में अंधकार के इस बादल में यही रुपहली रेखा ढूँढ़ने का प्रयत्न करता भी है। किन्तु जैसा कि मैंने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है, यह कवि संदेश देने के लिए कभी काव्य-रचना नहीं

करता। जीवनानुभव की प्रबल अभिव्यक्ति ही इसका उद्देश्य रहता है। आज का जीवन निराशा से आच्छन्न है : अतएव आज का कवि निराशा के अंधकार का सजीव अंकन मात्र करके भी समर्थ काव्य की सृष्टि कर ही सकता है। रूपक होने के कारण महाकाल में मानवीय रागात्मकता का तो बहुत-कुछ अभाव है क्योंकि वह तो रूपक की अनिवार्य परिसीमा है, किन्तु अहंवाद से प्रेरित कवि की ऊर्जस्वित कल्पना ने काव्य के सम्पूर्ण कलेवर में प्राण-शक्ति का संचार कर दिया है। गंभीर ध्वनि-घोषों से निनादित इस रेडियो-नाटक का श्रोता के मन पर अत्यन्त प्रबल प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना मैं बिना सुने कर सकता हूँ क्योंकि कवि ने अपने विराट अवाक् कल्पना-चित्रों को नाद-गांभीर्य में मूर्त करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। वस्तु-संगठन की दृष्टि से मैं इसे अन्य दो नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल मानता हूँ।

द्रौपदी में महाभारत के इस आग्नेय पात्र का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में आख्यान किया गया है। महाभारत के आकाश में द्रौपदी की प्रतिहिंसा उल्का के समान ज्वलंत है। आखिरकार इस सर्वभक्षी प्रतिहिंसा का मूल आधार क्या था—स्वभाव से कोमल नारी का यह विद्रूप कैसा था ? भारत का आस्तिक हृदय इसे क्षत्राणी का सहज दर्प या मानव-स्वभाव के वैचित्र्य का ही एक अतर्क्य रूप मान कर स्वीकार करता रहा है। परन्तु आज का युग तो स्वभाव का भी कार्य-कारण-परम्परा से विश्लेषण किये बिना संतुष्ट नहीं होता : चेतन और अचेतन में वह प्रत्येक मानसिक घटना का कारण ढूँढ़ निकालता है। द्रौपदी की प्रतिहिंसा के पीछे भी एक निश्चित कार्य-कारण-श्रृंखला थी। कवि के अनुसार द्रौपदी का जीवन अत्याचार का संचित पुंज था। पहले तो पिता की प्रतिहिंसा का प्रतीक मात्र उसका स्वयंवर ही नारी के स्वयंवरण-अधिकार पर कठोर व्यंग्य था—जामाता बन कर द्रुपद के अपमान का प्रतिशोध करने में समर्थ कोई भी शूर पुरस्कार के रूप में द्रौपदी का वरण कर सकता था—अर्थात् द्रौपदी का अस्तित्व एक जड़ पुरस्कार के अतिरिक्त और क्या था ? फिर दूसरा भयंकर व्यंग्य कुन्ती का वह आशीर्वाद था जिसके द्वारा उसे पाँच पतियों की भार्या बनना पड़ा। और फिर, विवाह के उपरांत तो उसका जीवन यातनाओं और अपमानों का भीषण अट्टहास ही बन गया। इस प्रकार द्रौपदी का चिर-पीड़ित नारीत्व उसके अवचेतन में बैठ कर निरन्तर घृणा और प्रतिहिंसा के विष का संचय करता रहा—जो महाभारत पर विषाक्त धूम बन कर छा गया। सामान्यतः हमारे विश्वासमय संस्कार द्रौपदी के स्वयंवर को पिता के शौर्य-प्रेम और पंच-पतिवरण को मातृ-भक्ति का प्रतीक मान कर ग्रहण करते रहे हैं। आस्तिक कवि

के लिए पंचपतिव्रत से उसका गौरव पंचगुण हो जाता है—'जय भारत' का कवि कृष्ण के श्रीमुख से द्रौपदी की प्रशस्ति में कहता है :

पाँचगुना पातिव्रत पाला यहाँ जिसने
मेरी उस एक शीलशालिनी बहिन की
घर्षण का, कर्षण का यह परिणाम है। (जय भारत)

किन्तु इतनी आस्तिकता क्या आज साधारणतः सम्भव है ? भगवतीचरण वर्मा की द्रौपदी चरम निराशा की स्थिति में जीवन के निर्मम व्यंग्य के रूप में पंचपतियों के पातिव्रत का आशीर्वाद (?) ग्रहण करती है। कदाचित् यही आख्यान इस युग के अविश्वासी मन के अधिक अनुकूल पड़ता है। द्रौपदी के व्यक्तित्व का अंतर्विश्लेषण करने के उपरांत कवि फिर एक प्रश्न करता है.भीषण प्रतिहिंसा की प्रतीक होकर भी द्रौपदी पूज्या किस प्रकार हुई ? द्रौपदी के जीवन-नाटक का बीज इसी प्रश्न में निहित है। कवि स्वयं इसका समाधान नहीं कर पाया—वह यह कह कर मौन हो जाता है कि :

धैर्य की रही हो तुम अति कठोर अचल मूर्ति,
तुम थीं स्थित केवल पतियों की प्रतिछाया सी।
तुम थीं मानव की मर्यादा की परम पूर्ति !
और यह विनाश नहीं मानव का, युग का था
उस युग का जिसमें थे घृणा और दर्प मान !

यह कोई समाधान नहीं है। परन्तु मैं तो आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि इस कवि से आप समाधान की आशा न करें—इसके पास समाधान नहीं है।

कर्ण इस संग्रह का सब से प्रबल नाटक है। आहत अहंकार का यह युग पौराणिक पात्रों में सबसे अधिक कर्ण को ही प्यार करता रहा है। कर्ण परिस्थिति द्वारा पराभूत व्यक्ति के अहंकार का जीवन्त प्रतीक है : कदाचित् भारतीय इतिहास में इस दृष्टि से उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। इस नाटक में भी भगवतीचरण ने ऐतिहासिक चरित्र का मार्मिक पुनराख्यान प्रस्तुत किया है। शौर्य में अप्रतिभ कर्ण का अहंकार सामाजिक तिरस्कार से पराभूत है। कुन्ती की स्वीकारोक्ति उसका परितोष न कर, उलटे जारज अस्तित्व की दंशमयी चेतना जगाकर और भी कटुता उत्पन्न कर देती है। वह दान और चारित्र्य के द्वारा इस पराभव का भी उन्नयन करना चाहता है किन्तु दान के लिए अपेक्षित सात्विक विनय के अभाव में उसे सफलता नहीं मिलती—उसकी दानशीलता उसी सर्वग्रासी अहंकार की अभिव्यक्ति मात्र होकर रह जाती है। दानी के लिए तो अहं का दान पहली शर्त है : परन्तु कर्ण उसमें असमर्थ रहा,

इसीलिए उसका जीवन केन्द्र-च्युत उल्का-पिण्ड की तरह निरन्तर जलता रहा। कृष्ण के द्वारा अंत में कवि ने कर्ण के अपने चरित्र-दोष को ही उसके पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है और यही ध्वनित करने का प्रयत्न किया है कि अहंकार का नाश अनिवार्य और श्रेयस्कर है किन्तु वह बुद्धिजन्य समाधान मात्र है। इस नाटक के प्राणभूत रस का प्रेरक है कर्ण के अहंकार के प्रति कवि का अदम्य आकर्षण : **"कर्ण की अहम्मन्यता—इस पर मैं मुग्ध हूँ।"** यही मुग्ध-भाव जो कर्ण के अहंकार के साथ कवि की व्यक्तिगत चेतना और युग की समष्टिगत चेतना के तादात्म्य की प्रबल अभिव्यक्ति है, इस ध्वनि-रूपक का रस-स्रोत है।

भगवतीचरण वर्मा में शिल्प की अपेक्षा कला अधिक है—और स्पष्ट शब्दों में, उनकी कल्पना सूक्ष्म अवयवों से ललित क्रीड़ा करने की अपेक्षा नाटकी स्थिति, चारित्रिक द्वन्द्व आदि की उद्भावना में अधिक सफल होती है। काव्य सामग्री—अर्थात् आलंकारिक प्रसाधन, शब्द-संगीत, आदि का वैभव उनके पास नहीं है, परन्तु नाट्य-प्रभाव, वक्र व्यंजना आदि के वे धनी हैं।